श्री ब्र० ज्ञानानंद जी न्यायतीर्थ द्वारा अहिंसा प्रचारणी सभा काशीके लिये अहिंसा प्रेस भदैनी घाट-काशी से मुद्रित।

पुस्तक मिलने का पताः—
मेनेजर अहिंसा प्रचारिणी सभा,
काशी।

❋ अहिंसा ग्रन्थमाला, प्रथम पुष्प। ❋

शान्ति-सोपान



परमानन्द स्तोत्र, स्वरूप—संबोधन, सामायिक पाठ
मृत्यु—महोत्सव और समाधि—शतक का
भावानुवाद।

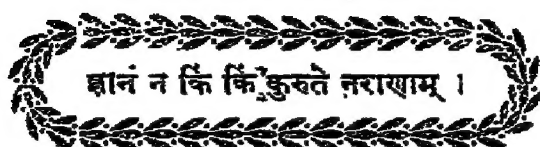
श्री ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द जी कृत।



प्रकाशिका—
श्री अहिंसा प्रचारिणी सभा, काशी।

श्रावण
श्री वीर नि० सं० २४४८।

ग्रन्थ सूची— पृष्ठ—



समर्पण ।



श्रीमान् माननीय महानुभाव न्यायाचार्य

पंडित गणेश प्रसाद जी वर्णी

संस्थापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशी

व सत्तर्क-सुधा-तरंगिणी पाठशाला

सागर के कर कमलों में लघु

लेखक द्वारा सादर

समर्पित ।

जयति जगति जिन शासनम् ।

भूमिका ।

साहित्य-सेवी, शिक्षित-समुदाय इस बातको भली-भांति जानता है कि संसार के समस्त रसों में शांति रस सब से ऊंचे दर्जे का है। क्रोधादि कषायों के प्रचण्ड संताप से जब किसी की आत्मा तप्त हो जाया करती है तब बड़ी २ नदियों की निर्मल धारायें, शीतल चंदन, चन्द्रमा, खस, केवड़े और मलयगिरि की प्रातःकालीन शिशिर सुगंधित निर्मल अनिल आदिक सब मिल कर भी उस संताप को दूर करने में समर्थ नहीं हुआ करते। उस संताप के नष्ट करने की शक्ति यदि किसी में होती है, तो वह केवल संसार के स्वभावको जानने वाले सरल चित्त सज्जनों के सुधा-स्रावी उपदेश में होती है। इसी एक रामबाण औषधि के सेवन से यह क्रोधादि कषाय का भयंकर हार्दिक रोग शांत हो सकताहै। प्रबल से प्रबल प्रतापी योद्धा बड़ी २ तोप, तलवार और मशीनगनों का भय दिखा कर भी जिस मस्तक को रंचमात्र नीचा नहीं कर सकते, उसी उन्नत मस्तक को महर्षि पुरुष, प्रशम—पीयूष—पोषक एक-दो वाक्य सुना कर चरणों में झुका लिया करते हैं। इस प्रकार संसार भर को वश करने में समर्थ और बिना प्रयत्न हमेशा पास रहने वाले शांतिमय शस्त्र की महिमा में और अधिक कुछ न लिख कर प्रकृत पुस्तक शांति-सोपान के विषयमें हम यह सूचित कर देना आवश्यक समझतेहैं कि इस

पुस्तक में जिन परमानंद स्तोत्र, श्रीअकलंक देव विरचित स्वरूप—संबोधन;मृत्यु महोत्सव व श्रीपूज्यपाद स्वामी रचित समाधि-शतक, नामक ग्रन्थों का सरल अनुवाद प्रकाशित किया गया है, वे चारों ही ग्रन्थ शांति रस की पुष्टि करने में एक से एक उत्तम हैं।

प्रथम ग्रन्थ परमानंद स्तोत्रमें यद्यपि केवल २४ ही श्लोक हैं। किन्तु ये थोड़े से ही पद्य, जब सब तरफ से चित्त-वृत्ति को हटा कर मनन किये जाते हैं तब आत्मा में विचित्र आनंद उत्पन्न कर देते हैं। इस स्तोत्र के रचयिता का नाम यद्यपि हमें मालूम नहीं हो सका किन्तु इस बात को प्रकाशित किये बिना हमसे नहीं रहा जाता कि जिन महानुभाव के द्वारा इस स्तोत्र की रचना हुई है उन्होंने केवल अपनी इस कृति से ही परमात्मपद की झलक दिखाने का कार्य कर दिया है।

दूसरा स्वरूप-संबोधन ग्रंथ दि० जैन न्याय शास्त्रों के प्रसिद्ध कर्त्ता श्री अकलंक भट्टाचार्य का बनाया हुआ है। जिस प्रखर आचार्य ने न्याय विनिश्चयालंकार सरीखा अद्भुत ग्रंथ २०,००० हजार श्लोकों में लिखकर समाप्त किया है और अष्टशती व राजवार्तिक सरीखे अनेक महत्व पूर्ण विशाल ग्रंथ रचकर अपनी अलौकिक विद्वत्ताका परिचय दिया है उन्हीं आचार्य महाराज ने इस छोटे से युक्ति पूर्ण ग्रंथ को केवल २५ श्लोकों में रचकर यथेष्ट भोजन कराने के बाद उत्तम पान का बीड़ा खिलाने सरीखा काम कर दिया है। ग्रंथ कर्त्ता महानुभाव ने इस छोटे से अध्यात्म ग्रंथ में भी

न्याय विषयक लेखनशैली की अद्‌भुत छटा दिखाये विना नहीं छोड़ी।

तीसरा; सामायिक पाठ केवल १२ श्लोकों में किसी महात्मा ने ऐसा सुन्दर वनाया है कि ध्यान पूर्वक पढ़ने से राग-द्वेष की कालिमा का वोध करा देता है।

चौथे; मृत्यु—महोत्सव ग्रंथ में हमने १८ मूल श्लोकों के अतिरिक्त पूर्व में ७ श्लोक श्री रत्न करंड श्रावकाचार में से भी सम्मलित कर दिये हैं। दिन—रात मौत से डरते रहने वाले संसारी जीवों के लिये मृत्यु महोत्सव के २५ श्लोक वड़े काम की चीज हैं। इन श्लोकों को ध्यान पूर्वक पढ़ कर मनन करने से विवेकी पुरुषों का मृत्यु का भय वास्तव में दूर हो सकता है।

पांचवां—समाधि-शतक ग्रंथ सर्वार्थ सिद्धि व जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्र कर्त्ता श्री पूज्य पाद आचार्य के द्वारा १०५ श्लोकों में रचा गया है इस अपूर्व ग्रन्थ के एक अनुभव पूर्ण श्लोक द्वारा ग्रंथ कर्त्ता महाराज ने जिस प्रशम—पीयूष का पान कराया है उसका पता पाठकों को इस ग्रंथ का मनन करने से ही लग सकता है। भयंकर सांसारिक दुःखों के कूप में पड़े हुए जिस पुरुष को अपनी आत्मा के उद्धार की उत्कट इच्छा हो उसको दुःख कूप से वाहर निकलने के वास्ते रज्जु (रस्सी) का काम देने के लिये यह ग्रंथ निःसन्देह समर्थ समझना चाहिये। तथा संसार के समस्त दुखों की

असली जड़ का पता लगाना हो और उस जड़ को काट डालने की जिसकी इच्छा हो उसका कार्य इस ग्रंथ के:—

"मूलं संसार दुःखस्य; देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

केवल इस श्लोक के अर्थ को मनन करके तदनुकूल क्रिया करने से चल जावेगा।

इस प्रकार इन पांच छोटी २ पुस्तकों को शांतरस की पोषक समझ कर भावानुवाद करके शांति सोपान के नाम से प्रकाशित कर दिया है। यदि पाठक महाशयों को हमारा यह प्रयास पसंद आवेगा तो आगामी और भी कोई पुस्तक अध्यात्म रसिक पाठकों की सेवा में समर्पित करने की चेष्टा की जायगी।

अज्ञानवश यदि किसी श्लोक भाव व्यक्त करने में त्रुटि रह गई हो तो पाठक महोदय उसे सूचित करें।

मिती श्रावण शुक्ला १५
वी० सं० २४४८,
खजांची की नशियां जयपुर।

प्रशम-पीयूष-पिपासु—
ब्रह्मचारी-ज्ञानानंद।



श्री परमानन्दाय नमः।

शान्ति-सोपान

* परमानन्दस्तोत्र *

परमानंदसंयुक्तं, निर्विकारं निरामयं।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितं ॥१॥

अर्थ—परमानन्द युक्त रागादिक विकारों से रहित, ज्वरादिक रोगों से मुक्त और निश्चय नय से अपने शरीर में ही विराजमान परमात्मा को ध्यानहीन पुरुष नहिं देख सकते।

अनंतसुखसंपन्नं, ज्ञानामृतपयोधरं।
अनंतवीर्यसंपन्नं, दर्शनं परमात्मनः ॥ २ ॥

अर्थ—अनन्त सुखविशिष्ट, ज्ञानरूपी अमृत से भरे हुए समुद्र के समान और अनन्त बल युक्त परमात्मा का स्वरूप समझना चाहिये।

निर्विकारं निराबाधं, सर्वसंगविवर्जितम्।

परमानंदसम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥३॥

अर्थ—रागादिक विकारों से रहित, अनेक प्रकार की सांसारिक बाधाओं से मुक्त, सम्पूर्ण परिग्रहों से शून्य, परमानन्द विशिष्ट, शुद्ध केवल ज्ञान रूप चैतन्य ही परमात्मा का लक्षण मानना चाहिये ॥ ३ ॥

उत्तमा स्वात्मचिंतास्यान्मोहचिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात्, परचिंताऽधमाधमा ४

अर्थ—अपनी आत्मा के उद्धार की चिंता करना उत्तम चिंता है, प्रकृष्टमोह अर्थात् शुभराग वश दूसरे जीवों के भले करने की चिंता करना मध्यम चिंता है, काम भोग की चिंता करना अधम चिंता है और दूसरों के अहित करने का विचार करना अधम से भी अधम चिंता है ॥ ४ ॥

निर्विकल्पसमुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसं।
विवेकमंजुलिं कृत्वा तत्पिबंति तपस्विनः ।५।

अर्थ—आत्मा के असली स्वरूप को बिगाड़ने वाले अनेक प्रकार के संकल्पविकल्पों को नाश करने से जो ज्ञानरूपी अमृत उत्पन्न होता है उसको तपस्वी महात्मा ही विवेक रूपी अंजुलि से पीते हैं ॥५॥

सदानन्दमयं जीवं यो जानाति, स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं, परमानन्दकारणम् ॥६॥

अर्थ—जो पुरुष निश्चय नय से सदा ही आत्मा में रहने वाली परमानन्द दशा को जानता है वही वास्तव में पंडित है और वही पुरुष अपनी आत्मा को परमानन्द का कारण समझ कर वास्तव में उसकी सेवा करनी जानता है।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः ॥७॥

अर्थ—जैसे कमल पत्र के ऊपर पानी की बूंद कमल से हमेशा भिन्न रहती है, उसी प्रकार यह निर्मल आत्मा शरीर के भीतर रह कर भी स्वभाव की अपेक्षा शरीर से सदा भिन्न ही रहता है अथवा कार्माण शरीर के भीतर रह कर भी कार्माण शरीरजन्य रागादि मलों से सदा अलिप्त रहता है ॥ ७ ॥

द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं भावकर्म विवर्जितम्।
नोकर्मरहितं विद्धि, निश्चयेन चिदात्मनः ॥८॥

अर्थ—इस चैतन्य आत्मा का स्वरूप निश्चय करके ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मों से शून्य, रागादिरूप भाव कर्मों से रहित व औदारिक वैक्रियिक आदि शरीररूप नोकर्मों से रहित जानना चाहिये ॥८॥

आनन्दं ब्रह्मणोरूपं, निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम् ९

अर्थ—इस परम ब्रह्म रूप परमात्मा के आनन्दमय स्वरूप को शरीर के भीतर ही मौजूद होते हुए भी ध्यान हीन पुरुष नहीं जानते हैं, जैसे जन्मांध पुरुष सूर्यको नहीं जानता है।

तद्ध्यानं क्रियते भव्यैर्मनोयेन बिलीयते।
तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं चिच्चमत्कारलक्षणम् १०

मोक्षके इच्छुक भव्य जीवों को वही ध्यान करना चाहिये जिसके द्वारा यह चंचल मन स्थिर होकर परमात्मस्वरूप में विशेष रूपसे लीन हो जावे, क्यों कि जिस समय इस प्रकार का ध्यान होता है उसी समय चैतन्यचमत्कारस्वरूप परमात्मा का साक्षात् दर्शन होता है।

ये ध्यानशीला मुनयः प्रधाना
स्तेदुखहीना नियमाद्भवन्ति।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्वं
व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव ॥११॥

जिन मुनियों का उत्तम ध्यान करना ही स्वभाव पड़ गया है वे मुनिपुंगव कुछकाल में ही नियम से सर्वदुःखों

से छूट कर अर्हंत स्वरूप परमात्मपदको प्राप्त हो जाते हैं और बाद में अयोगकेवली हो कर क्षणमात्र में अष्टकर्म रहित अविनश्वर मोक्षधाम में सदा के लिये जाविराजमान होते हैं ॥ ११ ॥

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं,
समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तं
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यं
जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वं ॥१२॥

'निज स्वाभाव में लीन हुए मुनि ही परमात्माके समस्त संकल्पों से रहित परमानंदमय स्वरूप में निरंतर तन्मय रहते हैं। और इस प्रकार के योगी महात्मा ही आगे कहे जानेवाले परमात्म-स्वरूप को स्वयं जानते हैं ॥ १२ ॥

चिदानन्दमयं शुद्धं निराकारं निरामयं ।
अनन्तसुखसम्पन्नं सर्वसंगविवर्जितम् ॥१३॥
लोकमात्रप्रमाणोऽयं निश्चये न हि संशयः ।
व्यवहारे तनूमात्रः कथितः परमेश्वरैः ॥१४॥

श्री सर्वज्ञ देव ने परमात्माका स्वरूप चिदानंदमय शुद्ध रूप-रस,गंध स्पर्शमय आकार से रहित, अनेक प्रकार के रोगों से सर्वथा शून्य, अनंतसुख विशिष्ट व सर्व ,परिग्रह

रहित बताया है। और निश्चय नयसे आत्मा या परमात्मा का आकार लोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेशी तथा व्यवहार नयसे कर्मोदय से प्राप्त छोटे व बड़े शरीर के समान बताया है॥ १३। १४॥

यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं तत्क्षणं गतविभ्रमः।
स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्पसमाधिना १५

इस प्रकार ऊपर कहे हुए परमात्माके स्वरूप को योगी पुरुष जिस समय निर्विकल्पसमाधिके द्वारा (ध्याता-ध्येय-ध्यान की अभिन्न रूप एक अवस्था हो जाने से) जान लेता है उस समय उस योगी का चित्त रागादि जन्य आकुलता से रहित स्थिर होता है और उसकी आत्मा को अनादि काल से भ्रम में डालने वाले अज्ञानरूपी पिशाच का नाश हो जाता है। उस समय वह निश्चल योगी ही आगे कहे जाने वाले विशेषणों से विशिष्ट हो जाता है।

स एव परमं ब्रह्म, स एव जिनपुंगवः।
स एव परमं तत्वं, स एव परमो गुरुः॥१६॥
स एव परमं ज्योतिः, स एव परमं तपः।
स एव परमं ध्यानं, स एव परमात्मनः॥१७॥
स एव सर्वकल्याणं, स एव सुखभाजनम्।

स एव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमः शिवः ।१८॥
स एव परमानन्दः, स एव सुखदायकः ।
स एव परचैतन्यं, स एव गुणसागरः ।१९॥

अर्थ–अर्थात् वह परमध्यानी योगी मुनि हीं परमब्रह्म तथा घातिया कर्मों को जीतने से जिन, शुद्धरूप हो जाने से परम आत्मतत्त्व, जगतमात्र के हितका उपदेशक हो जाने से परमगुरु, समस्त पदार्थों के प्रकाश करने वाले ज्ञान से युक्त हो जाने से परमज्योति, ध्यान ध्याता के अभेदरूप हो जाने से शुक्ल ध्यान रूप परमध्यान, व परम तप रूप परमात्मा के वास्तविक स्वरूपमय हो जाता है तथा वही परमध्यानी मुनि ही सर्व प्रकार के कल्याणों से युक्त, परमसुख की पात्र, शुद्ध चिद्रूप, परमशिव कहलाता है और वही परमानंदमय, सर्व सुखदायक, परमचैतन्य आदि अनंतगुणों का समुद्र हो जाता है। १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

परमाल्हादसम्पन्नं, रागद्वेषविवर्जितम् ।
अर्हन्तं देहमध्ये तु, यो जानाति स पण्डितः ॥२०॥

अर्थ-इस प्रकार ऊपर कहे हुए परम आल्हादयुक्त, राग-द्वेष शून्य, अर्हन्त देव को जो ज्ञानी पुरुष अपने देहरूपी मंदिर में विराजमान देखता व जानता है, वही पुरुष वास्तव में पंडित कहा जा सकता है ॥ २० ॥

आकाररहितं शुद्धं, स्वस्वरूपव्यवस्थितम्।
सिद्धमष्टगुणोपेतं, निर्विकारं निरंजनम् ॥२१॥

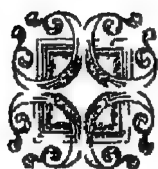
अर्थ-इसी प्रकार अरहंत भगवानके स्वरूप की तरह सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप को रूपरसादिमय आकार से रहित, शुद्ध, निज स्वरूप में विराजमान, रागादि विकारों से शून्य, कर्म-मल से रहित, क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनंतवीर्य, सूक्ष्मत्व, अव्याबाध, अगुरुलघुत्व और अवगाहना रूप अष्ट गुणों से सहित चिंतवन करे।

तत्सदृशं निजात्मानं, प्रकाशाय महीयसे।
सहजानंदचैतन्यं, यो जानाति स पंडितः॥२२॥

सिद्ध परमेष्ठी के समान तीनलोक व तीनों कालवर्ती समस्त अनंत पदार्थों का एक साथ प्रकाश करने वाले केवल ज्ञान आदि गुणों की प्राप्ति के लिये जो पुरुष अपनी आत्मा को भी परमानंदमय, चैतन्यचमत्कारयुक्त जानता है, वही वास्तव में पण्डित है।

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतं।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः।
काष्ठमध्ये यथा वन्हिः, शक्तिरूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पण्डितः॥२४॥

अर्थ-जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाणमें सोना गुप्त रीतिसे छिपा रहता है, तथा दुग्ध में जैसे घृत व्याप्त रहता है, तिल में जैसे तैल व्याप्त रहता है उसी प्रकार शरीर में परमात्मा को विराजमान समझना चाहिये। अथवा जैसे काष्ठ के भीतर अग्नि शक्तिरूप से रहती है उसी प्रकार शरीर के भीतर शुद्ध आत्मा को जो पुरुष शक्ति रूप से विराजमान देखता है वही वास्तव में पण्डित है॥ २३॥ २४॥ शुभं भूयात्॥



॥ श्रीः ॥

श्री भट्टाऽकलंकप्रणीत-स्वरूपसम्बोधन

मुक्ताऽमुक्तैकरूपोयः, कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥१॥

अर्थ—मंगलाचरण करते हुए श्री अकलंकभट्टाचार्य कहते हैं कि जो अविनश्वर ज्ञानमूर्ति परमात्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से, रागादिक भावकर्मों से व शरीररूपनोकर्म से मुक्त (रहित) है और सम्यग्ज्ञान आदि अपने स्वाभाविक गुणों से अमुक्त (युक्त) है उस परमानंदमय परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूं।

अर्थात् उपर्युक्त तीन प्रकार के कर्मों को नष्ट कर देने के कारण जो मुक्तरूप है और अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य, आदि गुणों से युक्त होने के कारण जो अमुक्त रूप है और ज्ञान ही जिसकी मूर्ति है उस अविनश्वर परमात्मा को इसमें नमस्कार किया गया है।

मीमांसक परमात्मा को कर्म रहित नहीं मानते इस लिये उनके मतको निराकरण करनेके लिये कर्म-मुक्त विशेषण दिया गया है, नैयायिक व वैशेषिक, मुक्तजीव में ज्ञानादि विशेष गुणों का भी अभाव मानते हैं इस लिये ज्ञानादि से अमुक्त विशेषण दिया है, कोई २ मतावलम्बी मुक्तिसे फिर वापिस

आना मानते हैं इस लिये अक्षय विशेषण दिया गया है, सांख्य मतावलम्बी परमात्मा को ज्ञान रहित मानते हैं इसलिये ज्ञान-मूर्ति विशेषण दिया गया है। और मुक्तामुक्त कहने से स्याद्वाद की सिद्धि भी की गई है तथा आगे भी प्रायः प्रत्येक श्लोक में स्याद्वाद की सिद्धि की जायगी ॥ १ ॥

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं क्रमाद्धेतुफलावहः।
यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तःस्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः२

अर्थ—वह परमात्मा आत्मरूप होने से कारण स्वरूप है, और ज्ञान-दर्शन-रूप होने से कार्य स्वरूप भी है। इसी तरह केवल ज्ञानके द्वारा जानने योग्य होने से ग्राह्य स्वरूप है, और इन्द्रियों के द्वारा न जानने योग्य होने से अग्राह्य स्वरूप भी है।

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यरूप है, और परिणमन शील होने से पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद-विनाश स्वभाव भी है। इस प्रकार परमात्मा में अनेक तरह से अनेकांत मना सिद्ध होता है ॥ २ ॥

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रमेयत्वादिक धर्मों की अपेक्षा से वह परमात्मा अचेतन रूप है और ज्ञान दर्शनकी अपेक्षा से चेतनरूप भी

है अर्थात् दोनों अपेक्षाओं से चेतन अचेतन स्वरूप है।

भावार्थ—आत्मा में एक चेतना नामका गुण है जिस गुणकी ज्ञान व दर्शन ये दो पर्यायें होती हैं। और इस चेतना गुण अथवा इसकी ज्ञान-दर्शन पर्यायोंकी अपेक्षा से ही आत्मा चेतन कहलाता है, इस चेतना गुण के अतिरिक्त आत्मा में और जो प्रमेयत्व (जिसके होने से वस्तु ज्ञान का विषय होती है) आदि अनंत गुण ऐसे हैं जो कि पुद्गलादि अचेतन पदार्थों में भी पाये जाते हैं उन गुणों की अपेक्षा आत्मा एवं परमात्मा को अचेतन भी कह सकते हैं और इसी लिये आत्मा में चेतनपना व अचेतनपना सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नःकथंचन ।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्त्तितः ॥ ४ ॥

अर्थः—वह परमात्मा ज्ञान से भिन्न है और ज्ञान से भिन्न नहीं भी है अर्थात् ज्ञान से कथंचित् (किसी अपेक्षा से) भिन्न है, सर्वथा (सब अपेक्षाओं से) भिन्न नहीं है। इसी प्रकार वह परमात्मा ज्ञान से अभिन्न है और ज्ञान से अभिन्न नहीं भी है अर्थात् ज्ञान से कथंचित् अभिन्न है सर्वथा अभिन्न नहीं है, क्योंकि पहले पिछले सब ज्ञानों का समुदाय ही मिल कर आत्मा कहलाता है।

भावार्थ—आत्मा नित्य परिणमनशील पदार्थ है और उसमें अनंत गुण हैं जिनमें ज्ञान गुण एक ऐसा है कि जो हमारे

अनुभव में आता है और जिसके द्वारा हम अपने व दूसरे के आत्मा को जान सकते हैं इस कारण ज्ञान गुण को ही यहां आत्मा कहा गया है, दूसरी बात यह है कि यह ज्ञान या चेतना गुण आत्मा में हमेशा रहते हुए भी परिणमता (बदलता) रहता है इस कारण किसी एक समय के ज्ञानमात्रही आत्मा न होने से ज्ञान से आत्मा भिन्न है और सर्व समयों के ज्ञानों का समुदाय रुप होने से ज्ञान से आत्मा अभिन्न है इसी कारण ज्ञान से आत्मा को सर्वथा भिन्न वा अभिन्न न मानकर कथंचित् भिन्न अथवा अभिन्न माना गया है ॥ ४ ॥

स्वदेहप्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैव सः।
ततःसर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा ॥ ५ ॥

अर्थ—वह अरहंत परमात्मा अपने परम औदारिक शरीर के बराबर है और बराबर नहीं भी है अर्थात् समुद्घात (मूल शरीर में रहते हुए भी आत्मा के प्रदेशों का कारण विशेष से कार्मण आदि शरीरों के साथ बाहर निकलना) अवस्था में जिस समय केवली भगवान की आत्मा के प्रदेश संपूर्ण लोकाकाश में फैल जाते हैं उस समय आत्मा औदारिक शरीर के बराबर नहीं है। इसी तरह वह परमात्मा ज्ञानमात्र है और ज्ञान मात्र नहीं भी है अर्थात् ज्ञानगुण को मुख्य करके व अन्य समस्त गुणों को गौण करके यदि विचारा जाय तो आत्मा या परमात्मा ज्ञान मात्र दृष्टि में आता है और यदि अन्य गुणों

को मुख्य किया जाय तो ज्ञानमात्र दृष्टि में नहीं भी आता है। इसी तरह जब केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण लोक व अलोक को जानने की अपेक्षा लेते हैं तब परमात्मा को सर्वगत भी कह सकते हैं क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ परमात्मा से गत अर्थात् ज्ञात हैं और सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हुए भी अरहंत परमात्मा अपने दिव्य औदारिक शरीर में ही स्थित रहता है इस लिये वह विश्वव्यापी नहीं भी है।

भावार्थ—परमात्मा में उपर्युक्त धर्म कथंचित् सिद्ध होते हैं, सर्वथा सिद्ध नहीं होते ॥ ५ ॥

नानाज्ञानस्वभावत्वादेकोऽनेकोऽपि नैव सः।
चेतनैकस्वभावत्वादेकानेकात्मको भवेत् ॥ ६ ॥

अर्थ—उस आत्मा में मतिज्ञान, (इन्द्रिय व मन से वस्तु को जानना) श्रुतज्ञान (मति ज्ञान से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्धी को जानना) आदि अनेक ज्ञान होते हैं तथा और भी सम्यक्त्व (सच्चा विश्वास) चारित्र (सच्चा आचरण) आदि अनेक गुण होते हैं जिनके कारण यह आत्मा यद्यपि अनेक रूप हो रहा है तथापि अपने चेतन स्वरूप की अपेक्षा एकपने को नहीं छोड़ता। इस लिये इस आत्मा को कथंचित् एक रूप भी जानना चाहिये और कथंचित् अनेक रूप भी जानना चाहिये।

भावार्थ—जैसे एक पुरुष एक स्वरूप होकर भी पिता पुत्र चचा, भतीजा आदि रूप कहलाता है क्यों कि पिता की अपे-

जा उसको पुत्र, और पुत्र की अपेक्षा उसी को पिता, भतीजे की अपेक्षा चचा और चचा की अपेक्षा भतीजा कहते हैं। उसी तरह एक आत्मा आत्मपने की अपेक्षा एक स्वरूप होकर भी अपने धर्मों की अपेक्षा अनेक रूप कहा जाता है ॥ ६ ॥

नाऽवक्तव्यःस्वरूपाद्यैर्निर्वाच्यःपरभावतः।
तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचरः॥७॥

अर्थ—वह आत्मा अपने स्वरूप की अपेक्षा वक्तव्य (कहे जाने योग्य) होने से सर्वथा अवक्तव्य (न कहे जाने योग्य) भी नहीं है। और पर पदार्थों के स्वरूप की अपेक्षा अवक्तव्य होने से सर्वथा वक्तव्य भी नहीं है।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ अपने धर्मों की अपेक्षा से कहा जाता है या पुकारा जाता है परके धर्मोंकी अपेक्षा से नहीं व्यवहार किया जाता जैसे कि आम का फल, आम के नाम से कहा जाता है केला अमरूद आदि के नाम से नहीं कहा जाता। इस लिये प्रत्येक वस्तु में अपने स्वभाव से कहे जाने की योग्यता व अन्य पदार्थों के स्वभाव से न कहे जाने की योग्यता समझते हुए आत्मा में भी ऐसाही समझना चाहिये।

स स्याद्विधिनिषेधात्मा स्वधर्मपरधर्मयोः।
समूर्तिर्बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात् ॥८॥

अर्थ— वह आत्मा अपने धर्मों का विधान करनेवाला

व अन्य पदार्थों के धर्मों का अपने में निषेध करनेवाला है और ज्ञान के आकार होने से वह आत्मा मूर्तिक तथा पुद्गलमय शरीर से भिन्न होने के कारण अमूर्तिक है।

भावार्थ—आत्मा में जैसे स्वरूप की अपेक्षा विधिरूप धर्म है वैसे पर के स्वरूप की अपेक्षा निषेधरूप धर्म भी है। क्योंकि जैसे ज्ञानादिक आत्मिक धर्मों की अपेक्षा आत्माकी सत्ता सिद्ध होती है वैसे रूपरसादिक पुद्गल के धर्मों की अपेक्षा आत्मा की सत्ता नहीं सिद्ध होती। इसके अतिरिक्त, ज्ञान का पुंज होने के कारण जैसे आत्मा मूर्तिक कहा जा सकता है उसी तरह पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ न होने से अमूर्तिक भी कहलाता है ॥ ८ ॥

इत्याद्यनेकधर्मत्वं बंधमोक्षौ तयोः फलम्।
आत्मा स्वीकुरुते तत्तत्कारणैः स्वयमेव तु ॥९॥

अर्थ—इस प्रकार पहले कहे हुए क्रमके अनुसार यह आत्मा अनेक धर्मों को स्वयं धारण करता है और उनके धर्मों के फल स्वरूप बंध व मोक्ष रूप भी कारणाधीन स्वयं परिणमता है।

भावार्थ—यह आत्मा राग-द्वेषादि कारणों से कर्म का बंध करके पराधीन व दुःखी भी अपने आप ही होता है, और ज्ञान, ध्यान, जप, तप, आदि कारणों से बंध अवस्था को नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त कर स्वाधीन भी स्वयं ही हो जाता है ॥९॥

कर्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तु ।
बहिरन्तरुपायाभ्यां तेषां मुक्तत्वमेवहि ॥१०॥

अर्थ—जो आत्मा बाह्य शत्रु मित्र आदि व अंतरंग राग द्वेष आदि कारणों से ज्ञानावरणादिक कर्मों का कर्ता व उनके सुख दुःखादि फलों का भोक्ता है, वही आत्मा बाह्य स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि का त्याग करने से कर्मों के कर्ता भोक्तापने के व्यवहार से मुक्त भी है। अर्थात् जो संसार दशा में कर्मों का कर्ता व भोक्ता है वही मुक्तदशा में कर्मों का कर्त्ता भोक्ता नहीं भी है ॥ १० ॥

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रमुपायः स्वात्मलब्धये ।
तत्त्वे याथात्म्यसंस्थित्यमात्मनो दर्शनं मतम् ॥११॥
यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।
तत्स्वार्थव्यवसायात्मकथञ्चित्प्रमितेः पृथक् ॥१२॥
दर्शनज्ञानपर्यायेषूत्तरोत्तरभाविषु ।
स्थिरमालम्बनं यद्वा माध्यस्थ्यं सुखदुःखयोः ॥१३॥
ज्ञाता दृष्टाऽहमेकोऽहं, सुखे दुःखे न चापरः ।
इतीदं भावनादार्ढ्यं, चारित्रमथवापरम् ॥१४॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति अर्थात् संसारसे मुक्त

होने के कारण हैं, जिनमें से आत्मा के वास्तविक स्वरूप या सात तत्वों के सच्चे श्रद्धान को तो सम्यग्दर्शन कहते हैं। पदार्थों के वास्तविकपने से निर्णय करने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान दीपक की तरह अपना तथा अन्य पदार्थों का प्रकाशक होता है, और अज्ञान निवृत्ति रूप जो फल है उससे कथञ्चित् भिन्न भी है। स्त्री, पुत्रादिक बाह्य पदार्थों की मोह-ममता को त्याग कर जो अपनी ही क्रम २ से होने वाली ज्ञान दर्शनादिक पर्यायों में आत्मा के उपयोग का स्थिर होना है उसे सम्यक् चारित्र कहते हैं। अथवा सांसारिक सुख दुःखोंमें मध्यस्थभाव रखने को सम्यक् चरित्र कहते हैं, या, मैं ज्ञाता दृष्टा हूं अपने कर्त्तव्य के फल स्वरूप सुख दुःखों का भोगने वाला स्वयं अकेलाही हूं बाह्य स्त्री पुत्रादि पदार्थों का मेरे से कोई संबंध नहीं है इत्यादि अनेक प्रकारकी शुद्ध आत्म स्वरूप में तल्लीन कराने वाली भावनाओं की दृढ़ता को भी सम्यक् चारित्र कहते हैं॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं सहकारकं।
तद्बाह्यं देशकालादि तपश्च बहिरंगकम् ॥१५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को जो ऊपर के श्लोकों में मोक्ष प्राप्ति का मूल कारण बताया है उनके सहकारीकारण बाह्यदेश कालादिक व अनशन, अवमोदर्य आदि बाह्य तप समझने चाहिये।

भावार्थ—मोक्ष प्राप्ति में जैसे रत्नत्रय अंतरंग कारण है वैसे ही उत्तम क्षेत्र दुःखमसुखमा काल व वज्रर्षभनाराचसंहनन उपवास आदि तप बाह्य कारण हैं ॥ १५ ॥

इतीदं सर्वमालोच्य, सौस्थ्ये दौःस्थ्ये च शक्तितः।
आत्मानं भावयेन्नित्यं, रागद्वेषविवर्जितम् ॥१६॥

अर्थ—इस प्रकार तर्क वितर्क के साथ आत्म स्वरूप को अच्छी तरह जान कर सुख में व दुःख में यथाशक्ति आत्मा को नित्य ही राग-द्वेष रहित चिंतवन करना चाहिये अर्थात् सुख सामिग्री के मिलने पर राग नहीं करना चाहिये और अनिष्ट समागम में द्वेष नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये सब इष्ट अनिष्ट पदार्थ आत्मा की कुछ भी हानि नहीं कर सकते। इनका सम्बन्ध केवल शरीर से रहता है ऐसा विचार रखना चाहिये ॥ १६ ॥

कषायै रञ्जितंचेतस्तत्त्वं नैवावगाहते।
नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौंकुमः ॥१७॥

अर्थ—क्रोधादि कषायों से रंजयामान हुए मनुष्य का चित्त वस्तुके असली स्वरूपको नहीं पहिचान सकता, जैसे कि नीले कपड़े पर केसर का रंग नहीं चढ़ सकता।

भावार्थ—वस्तुके यथार्थस्वरूपको जानने का यत्न करने से भी पहले हृदय से क्रोधादि कषायों को दूर करना

चाहिये तभी वस्तु का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। जैसे अग्नि से जली हुई भूमि में अंकुर नहीं उगता, वैसे ही कषाय से दग्ध हृदय में धर्मांकुर नहीं उगता इस दृष्टान्त को भी हृदयंगम करके प्रत्येक पुरुष को निरन्तर कषायों को दूर करने के लिये पूर्ण प्रयत्न करते रहना चाहिये। जिससे कि वे संसार सागर में डूबी हुई अपनी आत्मा का उद्धार कर सकें ॥ १७ ॥

ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै, निर्मोहो भव सर्वतः।
उदासीनत्वमाश्रित्य तत्त्वचिंतापरो भव ॥१८॥

अर्थ—आचार्य व्यवहारी जीव से कहते हैं कि हे भाई जब राग-द्वेष के बिना दूर किये आत्महित नहीं हो सकता तब तुमको राग द्वेष नष्ट करने के लिये शरीरादिक पर पदार्थों का मोह त्याग कर और संसार शरीर व भोगों से उदासीन भाव धारण करके तत्त्व विचार में तन्मय रहना चाहिये ॥१८॥

हेयोपादेयतत्त्वस्य, स्थितिं विज्ञाय हेयतः।
निरालम्बो भवान्यस्मादुपेये सावलम्बनः॥१९॥

अर्थ—हेय (त्यागने योग्य) व उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थों का स्वरूप जान कर हेय वस्तु को त्यागना चाहिये व उपादेय वस्तु का ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ—जो स्त्री, पुत्र, धनधान्य, शत्रु मित्रादि पदार्थ

आत्महित के बाधक व राग-द्वेष के बढ़ाने वाले हैं उनसे सम्बन्ध छोड़ना चाहिये और संसारी जीवों को एक मात्र पंच परमेष्ठी का शरण ग्रहण कर ज्ञान ध्यानादि में तन्मय रहना चाहिये ॥ १६ ॥

स्वं परं चेति वस्तुत्वं, वस्तुरूपेण भावय।
उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते शिवमाप्नुहि ॥ २० ॥

अर्थ—अपनी आत्मा के व पर पदार्थों के असली स्वरूप का बार २ चिंतवन करना चाहिये, और समस्त संसारी पदार्थों की इच्छा का त्याग करके उपेक्षा भावना (राग द्वेष के त्याग की भावना) को बढ़ाते २ मोक्ष पद प्राप्त करना चाहिये ॥ २० ॥

मोक्षेऽपि यस्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।
इत्युक्त्वाद्धितान्वेषी, कांक्षा न क्वापि योजयेत् २१

अर्थ—जब किसी साधु महात्मा पुरुष के हृदय से मोक्ष की भी इच्छा निकल जाती है तभी उसको मुक्ति प्राप्त हो सकती है इस सिद्धान्त वाक्य के ऊपर ध्यान देते हुए आत्म-हित के इच्छुक जीवों को सभी पदार्थों की इच्छा का त्याग करना चाहिये।

भावार्थ—किसी भी पदार्थ की प्राप्ति प्रयत्न करने से होती है इच्छामात्र से नहीं होती, यहां तक कि मोक्ष की इच्छा

करने से मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता, किन्तु इच्छा करने से मोक्ष प्राप्ति में उलटी बाधा उपस्थित होती है, इसलिये आत्मा का हित चाहने वाले पुरुषों को इच्छा सर्वथा त्याज्य समझना चाहिये ॥ २१ ॥

सा ऽपि च स्वात्मनिष्ठत्वात्सुलभा यदि चिन्त्यते।
आत्माधीने सुखे तात, यत्नं किं न करिष्यसि॥२२॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि इच्छा करना तो अपने आधीन होने से सुलभ है किन्तु फल प्राप्ति अपने आधीन न होने से कठिन है इसलिये इच्छा किसी भी वस्तु की जा सकती है, ऐसा कहने वाले को आचार्य करुणा पूर्वक कहते हैं कि हे भाई, जैसे इच्छा करना आत्माधीन होने से सुलभ है वैसे ही परमानन्द मय सुख का पाना भी तो आत्मा के ही आधीन है इसलिये तुम उस सुख की प्राप्ति का प्रयत्न ही क्यों नहीं करते, जिससे कि संसार के झगड़ों से छूट कर हमेशा के के लिये निराकुलित हो जाओ ॥ २२ ॥

स्वं परं विद्धि तत्रापि, व्यामोहं छिन्धि किन्त्विमम्।
अनाकुलस्वसंवेद्ये, स्वरूपे तिष्ठ केवले ॥२३॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि मुक्ति प्राप्त करना भी अपने ही आधीन समझ कर स्व और पर को जानना चाहिये तथा बाह्य पदार्थों के मोह को नष्ट करना चाहिये, और आकुलता

रहित स्वानुभवगम्य केवल अपने निज स्वरूप में ही स्थिर होना चाहिये ॥ २३ ॥

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरं।
स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत्स्वोत्थमानंदममृतं पदम् २४

अर्थ—इस श्लोक में आचार्य आत्मा में ही सातों कारक सिद्ध करते हुए कहते हैं कि व्यवहारी जीवों को अपने ही आत्मा में अपने ही आत्महित के लिये अपने ही द्वारा अपने आप ही अपना ध्यान करना चाहिये, और अपने ही ध्यान से उत्पन्न हुए परमानन्द मय अविनश्वर पद को प्राप्त करना चाहिये ॥ २४ ॥

इति स्वतत्त्वं परिभाव्यवाङ्मयं,
य एतदाख्याति शृणोति चादरात् ।
करोति तस्मै परमार्थ सम्पदं,
स्वरूपसंबोधनपंचविंशतिः ॥२५॥

अर्थ—श्री अकलंक भट्टाचार्य उपसंहार करते हुए ग्रन्थ का महात्म्य वर्णन करते हैं कि जो पुरुष पच्चीस श्लोकों में कहे हुए इस स्वरूप सम्बोधन ग्रन्थ को पढ़ेंगे सुनेंगे और इसके वाक्यों द्वारा कहे हुए आत्म तत्व का वारंवार मनन करेंगे उनको यह ग्रन्थ परमार्थ की सम्पत्ति अर्थात् मोक्षपद प्राप्त करावेगा ॥ २५ ॥

॥ श्रीः ॥

सामायिक-पाठ ।

सिद्धवस्तुवचो भक्त्या, सिद्धान् प्रणमतः सदा ।
सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः, सिद्धिं ददतु नोऽव्ययाम् १

अर्थ—श्री सिद्ध परमेष्ठी व जगत सिद्ध सभी पदार्थों के कहने वाले जैन आगम को अथवा आगम के मूलकर्त्ता श्री अरहंत भगवान् को भक्ति पूर्वक नमस्कार करके व उनके बताये हुए मार्ग पर चल करके जिन पुरुषों ने संसार-दुःख के नष्ट करने रूप कार्य सिद्ध कर लिया है, ऐसे जीवन्मुक्त अरहंत देव व मोक्ष प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी, हमको भी अविनश्वर पद प्राप्त करावें।

भावार्थ—जिन पुरुषों ने श्री अरहंत देव व सिद्ध परमेष्ठी के अपना आदर्श मान कर व उनके बताये हुये मार्ग का अवलम्बन लेकर अरहंत व सिद्ध पद प्राप्त किया है वे हमको भी उसी अविनश्वर पद के मार्ग पर लगावें। इस श्लोक में यह बात भी बता दी गई है कि मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र उपाय श्री अरहंत व सिद्ध परमेष्ठी को आदर्श मान कर उनके बताये हुए मार्ग का अवलम्बन करना ही है ॥ १ ॥

नमोऽस्तु धौतपापेभ्यः सिद्धेभ्य ऋषिसंसदि ।

सामायिकं प्रपद्येऽहं, भवभ्रमणसूदनम् ॥ २ ॥

अर्थ—समस्त कर्म-कलंक को नष्ट कर देने वाले श्री सिद्ध परमेष्ठी को अत्यन्त भक्ति सहित अपने मनो मंदिर में विराजमान करके महर्षि पुरुषों के रहने योग्य कोलाहलादि से रहित पवित्र स्थान में स्थित होकर संसार दुःख को नाश करने वाली तथा परमानन्द पद को प्राप्त कराने वाली सामायिक को मैं प्रारम्भ करता हूं ॥ २ ॥

साम्यं मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित् ।
आशां सर्वां परित्यज्य, समाधिमहमाश्रये ॥३॥

अर्थ—सामायिक करते समय ऐसी भावना करनी चाहिये कि सम्पूर्ण जीव मात्र में मेरी समता रहे, वैर भाव किसी के साथ भी न हो, और समस्त सांसारिक इच्छाओं को त्याग कर मैं निरन्तर आत्मध्यान में तल्लीन रहूं ॥ ३ ॥

रागद्वेषान्ममत्वाद्वा, हा मया ये विराधिताः ।
क्षमंतु जंतवस्ते मे, तेभ्यः क्षमाम्यहं पुनः ॥ ४ ॥

अर्थ—अनादि काल से अब तक संसार चक्र में भ्रमण करते हुए मैंने राग-द्वेष व मोह वश जिन जीवों का घात किया है उन से मेरी अति विनय पूर्वक परोक्ष प्रार्थना है कि वे मुझे क्षमा करें मुझे स्वयं भी अपनी अनादि काल से अब तक

निरंतर बनी रही हुई अपनी इस दुर्बुद्धि का अत्यंत खेद है। इसके अतिरिक्त जिन जीवों से मेरे प्रति कुछ अपराध बन गया होगा उनको भी मैं सरल हृदय से क्षमा करता हूँ ॥ ४ ॥

मनसा वपुषा वाचा, कृतकारितसम्मतैः ।
रत्नत्रयभवंदोषं, गर्हे निंदामि वर्जये ॥ ५ ॥

अर्थ—सामायिक में यह भी विचारना चाहिये कि मन वचन काय से की हुई कृत कारित व अनुमोदना के द्वारा जो मैंने अपने रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र में दोष लगाया है उसकी मैं गर्हा व निंदा करता हूं और उस दोषका परित्याग करता हूं ॥ ५ ॥

तैरश्चं मानवं दैवमुपसर्गं सहेऽधुना ।
कायाहारकषायादीन्, संत्यजामि त्रिशुद्धितः॥६॥

अर्थ—तिर्यञ्च मनुष्य व देवों से किये हुए उपसर्ग को भी शांति पूर्वक सहन करने के लिये मैं इस समय तैयार हूं और शुद्ध मन वचन काय पूर्वक शरीर से ममत्व त्यागता हूं। सामायिक के काल तक आहार व अन्य परिग्रहों को छोड़ता हूं, तथा क्रोधादिक कषायों को अपना शत्रु समझ कर यथा शक्ति त्यागना चाहता हूं ॥ ६ ॥

रागं द्वेषं भयं शोकं,प्रहर्षौत्सुक्यदीनताः ।
व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वमरतिं रतिमेव च ॥ ७ ॥

अर्थ—राग, द्वेष, भय, शोक, हर्ष, उत्सुकता, दीनता रति आदि सभी दोषों को मैं आत्मघातक समझ कर मन वचन काय से सामायिक के काल तक त्यागता हूं व हमेशा के लिये इनको त्यागने योग्य शक्ति प्राप्त करना चाहता हूं ॥७॥

जीवते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बंधावरौ सुखे दुःखे, सर्वदा समता मम ॥ ८ ॥

अर्थ—जीवन मरण में, लाभ अलाभ में, संयोग वियोग में, शत्रु मित्र में, व सुख दुःख में, मेरे सदा समता भाव रहे ऐसा विचार करना चाहिये व सामयिक में इसी प्रकार का समता भाव रखना चाहिये ॥ ८ ॥

आत्मैव मे सदा ज्ञाने, दर्शने चरणे तथा।
प्रत्याख्याने ममात्मैव, तथा संवरयोगयोः ॥९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र व सम्यक् त्याग में और कर्मों के रोकने व ध्यानादि करने में मेरे एक आत्माही शरण है।

भावार्थ—आत्मा की शुद्ध दशा हो जाने पर ये सब गुण प्राप्त हो जाते हैं अथवा ये सब गुण आत्मा की शुद्ध दशा से भिन्न नहीं है इस लिये आत्मा शुद्ध होने पर इनकी प्राप्ति के लिये पृथक् प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है ॥ ९ ॥

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञानदर्शनलक्षणः।

शेषा बहिर्भवा भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः॥१०॥

अर्थ—ज्ञानदर्शनस्वरूप एक नित्य आत्माही वास्तव में मेरी निधि है, बाकी कर्मों के संयोग से होने वाले जो क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष आदि परिणाम हैं या स्त्री, पुत्र धन, धान्यादिक बाह्य पदार्थ हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं उनसे मेरा वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है॥ १०॥

संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा।
तस्मात्संयोगसंबंधं,त्रिधासर्वंत्यजाम्यहम्॥११॥

अर्थ—इस मेरी आत्मा ने अनादि काल से अब तक ज्ञानावरणादि कर्मों के संयोग से ही संसार में रुलते २ बहुत दुःख पाये हैं इस लिये अब मैं मन वचन काय से कर्म संबंध को ही त्यागता हूं। इत्यादिक भावनाओं व विचारों द्वारा सामायिक करते समय अपने मन को हित अहितका विवेचक बनाना चाहिये॥ ११॥

एवं सामायिकात्सम्यक् सामायिकमखंडितम्।
वर्त्तते मुक्तिमानिन्या वशीभूतायते नमः॥१२॥

अर्थ—इस प्रकार सामायिक पाठमें कही हुई रीतिके अनुसार परम अखंडित सामायिक को करने से जो महात्मा पुरुष मुक्ति रूपी स्त्री के वशी भुत हो गये हैं अर्थात् जिनको मुक्ति प्राप्त हो गई है उनको मैं बारंबार नमस्कार करता हूं॥ १२॥

॥ श्रीः ॥

मृत्यु-महोत्सव ।

सल्लेखना किसे कहते हैं और वह कब की जाती है ।

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१॥

अर्थ—जिसका कुछ प्रतीकार या इलाज न किया जासके ऐसे किसी भयंकर सिंह आदि द्वारा खाये जाने आदि के उपसर्ग आजाने पर, जिसमें शुद्ध भोजन सामिग्री न मिल सके, ऐसे दुष्काल के पड़ जाने पर, जिसमें धार्मिक व शारीरिक क्रियायें यथोचित रीति से न चल सकें ऐसे बुढ़ापे के आजाने पर, तथा किसी असाध्य रोग के हो जाने पर, धर्म की रक्षा के लिए शरीर के त्याग करने को व यथाशक्ति कषायोंके मन्द करने को महात्मा पुरुष सल्लेखना या समाधि मरण कहते हैं।

आगेके श्लोकों में बताये हुए कारणों से इस मृत्यु अवस्था को दुःखदायक न समझ कर एक प्रकार का उत्सव या महोत्सव समझना चाहिये, क्योंकि यह समय आयु पर्यन्त अभ्यास किये हुए ज्ञान, ध्यान, जप, तप, आदि शुभ कार्यों की परीक्षा का है और किये हुए शुभ कार्यों के फल की प्राप्ति का है, जैसे वीर पुरुष बहुत काल तक शस्त्र विद्या का अभ्यास कर युद्ध में जाते समय हर्ष मानता है और मरने का भय

नहीं करता, उसी तरह इस ज्ञानी पुरुष को भी मृत्यु समय में कुटुंबियों आदिक से व शरीर से मोह त्यागने में बहादुरी दिखानी चाहिये ॥ १ ॥

तप के फल स्वरूप समाधि मरण के लिये प्रयत्न।

अंतःक्रियाऽधिकरणं,तपः फलं सकलदर्शिनःस्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं, समाधि मरणे प्रयतितव्यम् ॥२॥

अर्थ—आयु पर्यन्त किये हुए तप का फल श्री अरहंत देव ने अन्त समय में होने वाला समाधि मरण कहा है इसलिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगा कर समाधि मरण करने में परम प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ—जैसे बहुत काल तक शास्त्राभ्यास करके भी परीक्षा के समय अनुत्तीर्ण (फेल) हो जाने वाला छात्र प्रशंसा का पात्र नहीं होता, अथवा युद्ध में हार जाने वाले सिपाही की जैसे कोई बड़ाई नहीं करता उसी तरह आयुपर्यन्त तप आदि करके भी जो पुरुष मरण समय में शरीर के या संबंधियों के मोह में विह्वल हो जाते हैं, उनका तप या ज्ञानादिक पाना प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। इसलिए अन्त समय में शरीर को कारागृह (कैदखाने) और संबंधियों को पहरेदार के समान समझ कर दोनों से प्रेम त्यागना चाहिये क्योंकि तप, ज्ञान, ध्यान आदि उत्तम कार्यों के करने से परलोक में मिलने वाली जो उत्तम विभूति है उसके शीघ्र

प्राप्त होने में शरीर व सम्बन्धी बाधक होते हैं ॥ २ ॥

समाधि-मरण के समय का कर्तव्य।

स्नेहं वैरं संगं, परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च, क्षांत्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः

अर्थ--समाधि मरण के समय शुद्ध मन पूर्वक मित्रों से प्रेम, शत्रुओं से वैर व स्त्री-पुत्रादिक से पति-पिता आदि का संबंध त्याग कर और सर्व प्रकार की चेतन-अचेतन परिग्रह से अर्थात् गाय, भैंस, दासी, दास, रुपये, पैसे, घर, बार आदि से स्वामीपने की बुद्धि का त्याग करके सम्पूर्ण कुटुम्बियों व अन्य मेल मिलापी जनों से मिष्ट वचनों द्वारा क्षमा करानी चाहिए, और स्वयं भी सब से क्षमा--भाव धारण करना चाहिए।

भावार्थ--गृहवास को सराय में किये हुए पड़ाव के समान या एक वृक्ष पर किये हुए अनेक पक्षियों के बसेरे के समान समझ कर अपने को अकेला ही समझना चाहिये, मुसाफिर खाने की भीड़ को भाई, बंधु, ताऊ, चचा, पुत्र, मित्र आदि समझ कर आकुलित होने से इस जीव का कोई भी लाभ नहीं होता है। इसलिये उक्त विचारों के द्वारा सब से मोह त्याग कर आनन्द पूर्वक इस जीर्ण, शीर्ण, दुर्गन्धमय व रोग ग्रसित शरीर से कूच करने के लिये तैयारी करनी चाहिये ॥ ३ ॥

मृत्यु-महोत्सव की तैयारी।

आलोच्य सर्वमनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजं।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥४॥

अर्थ--आयु पर्यन्त मन-वचन-काय से व कृत, कारित, अनुमोदना (करना-कराना, खुशी-मनाना,) से संचय किये हुए समस्त पाप कार्यों की आलोचना (निंदा) कर के मरण पर्यन्त के लिये समस्त महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह त्याग) को धारण करना चाहिये ॥ ४ ॥

शोकं भयमवसादं, क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च, मनः प्रसाध्यं श्रुतैरमृतैः॥५॥

अर्थ--समाधि मरण के समय कायरपने के व दुःख के कारण भूत शोक, भय, खेद, ग्लानि, कलुषता व अरति (बेचैनी) आदि को त्याग कर अपने पराक्रम और उत्साह को पूर्ण रूप से प्रकट करना चाहिये, और अमृतोपम शास्त्र-वचनों का रसास्वाद करते रहना चाहिये ॥ ५ ॥

समाधि मरण की विधि।

आहारं परिहाप्य च क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत् पानं।
स्निग्धं च हापयित्वा, खरपानं पूरयेत् क्रमशः ॥६॥

खरपानहापनामपि, कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत् सर्वयत्नेन ॥७॥

अर्थ—समाधि मरण करते समय शरीर से ममत्व घटाने के लिये क्रम से पहले आहार का त्याग करके दुग्ध पान का अभ्यास करना चाहिये, पश्चात् दुग्ध का भी त्याग करके छाछ या गर्म जल के पीने का अभ्यास करना चाहिये, बादमें शक्ति पूर्वक जलादिक सभी वस्तुओं का त्याग करके उपवास करते हुए तथा सर्व यत्न से पंच परमेष्टी के गुणों का ध्यान करते हुये शरीर को छोड़ना चाहिये ॥ ६ ॥ ७ ॥*

मोक्ष नगर के लिये कलेवा।

मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य, वीतरागो ददातु मे।
समाधिबोधपाथेयं, यावन्मुक्तिपुरी पुरः ॥ ८ ॥

अर्थ—श्री वीतराग सर्वज्ञ देव से प्रार्थना है कि मृत्यु महोत्सव रूपी कार्य में लगे हुए मुझको स्वरूप की सावधानी व रत्नत्रय की प्राप्तिरूपी, पाथेय (कलेवा) देवें, जिससे कि मैं मोक्ष नगर में जा पहुँचूं।

---

* नोट—उपयोगी व प्रकरण योग्य समझ कर श्री रत्नकरंड श्रावकाचार के ये उपर्युक्त ७ श्लोक भी मृत्यु महोत्सव के साथ में लगा दिये हैं।

भावार्थ—अरहंत देव आदि की प्रार्थना या भक्ति करने से यद्यपि साक्षात् मोक्ष प्राप्ति नहीं होती, तथापि पुण्य बन्ध पूर्वक परंपरा हो सकती है ॥ ८ ॥

मरने में भय क्यों किया जाय।

कृमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपंजरे।
भज्यमाने न भेतव्य, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥९॥

अर्थ—मरण के भय को दूर करने के लिए मरते समय आत्मा को ऐसे समझना चाहिये कि हे आत्मन्! तू तो ज्ञान रूपी दिव्य शरीर का धारी है इसलिये सैकड़ों कीड़ों के समूह से भरे हुए इस जीर्ण, शीर्ण, शरीर रूपी पींजरे के नाश होते समय तुझे कदापि भय करना उचित नहीं है।

भावार्थ—यह विचारना चाहिये कि अनादि काल से संसार चक्र में भ्रमण करते २ ये हाड़ मांस के शरीर तो तैं ने इतने पा लिये हैं, यदि वे सब इकट्ठे हो सकते तो उनसे यह सम्पूर्ण तीन लोक भर जाता, अब एक शरीर के नष्ट होने में भी दुःख मानना या भय करना योग्य नहीं है ॥ ९ ॥

नये नगर को गमन।

ज्ञानिन् भयं भवेत्कस्मात्प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे।
स्वरूपस्थः पुरं याति देही देहान्तरस्थितिः ॥१०॥

अर्थ—हे ज्ञानी आत्मन्! इस मृत्यु रूप महोत्सव के प्राप्त

होने से तू क्यों भय करता है क्योंकि इस मृत्यु के द्वारा तो तू अपने ज्ञानादिक स्वरूप में स्थित रहता हुआ शरीरान्तर रूप नये नगर को गमन करता है।

भावार्थ—मृत्यु जब आत्मा की ज्ञान दर्शन आदि पूंजी को नहीं छीनती किन्तु उसको इस जीर्ण शरीर रूपी टूटी फूटी झोंपड़ी से निकाल कर नवीन शरीर रूपी मनोहर महल में पहुंचाती है तब उसको भयकारी या दुःखदाई न समझ कर हितकारी ही समझना चाहिये ॥ १० ॥

मरण से स्वर्ग के सुख।

सुदत्तं प्राप्यते यस्मात्, दृश्यते पूर्वसत्तमैः।
भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं, मृत्युभीतिःकुतःसताम् ११

अर्थ—महात्मा पुरुष कहते हैं कि जब मृत्यु के द्वारा जन्म भर दिये हुए दानों के फल स्वर्गादिक के सुख प्राप्त होते हैं तब मृत्यु जैसे उपकारी मित्र से भय करना कैसे उचित हो सकता है ॥ ११ ॥

मृत्यु भूपतिका स्वागत।

आगर्भाद्दुःखसंतप्तः प्रक्षिप्तो देहपंजरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन, मृत्युभूमिपतिं विना ॥१२॥

अर्थ—समाधि मरण करते समय विचारना चाहिये कि

कर्म रूपी शत्रु ने मुझे इस देह रूपी पींजरे में लाकर बंद कर रक्खा है जिसके कारण मैं गर्भ में से लेकर अब तक अनेक प्रकार के दुःख भोग रहा हूं इस शरीर को मैंने जन्म भर उत्तम २ भोजन कराये अच्छे २ वस्त्र पहिनाये और अनेक प्रकार की सुख सामग्री प्राप्त कराई स्वयं अनेक प्रकार की लोभादि कषायों से संतप्त रहकर धन कमा २ कर इसको अनेक प्रकार के आराम दिये किन्तु इस कृतघ्न ने मुझे कभी सुख न दिया अच्छे भोजनों का मल मूत्र रुधिर आदि बना कर उनमें मुझको सड़ाया, दिव्य से दिव्य वस्त्रों को इसने बदबू दार बनाया संसार के अनेक जीवों से झूठे नाते जुड़वाये इत्यादि अनेक दुःखों के कारण मैं इससे तंग आ गया हूं और मृत्यु रूपी बलवान राजा के बिना और कोई इस दुष्ट शरीर रूपी पिशाच से मुझे बचाने के लिये समर्थ नहीं है इस लिये स्वयं ही मेरे पास आये हुए मृत्यु महाराज का मुझे बड़ा उपकार मनाना चाहिये ॥ १२ ॥

मृत्यु-मित्र।

सर्वदुःखप्रदं पिंडं, दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः।
मृत्युमित्रप्रसादेन, प्राप्यते सुखसम्पदः ॥ १३ ॥

अर्थ—आत्म दर्शी ज्ञानी पुरुष रूपी मित्र के प्रसाद से सब दुःखों को देने वाले इस देह रूपी पिंड को त्याग कर सुख सम्पत्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त

इस अपवित्र शरीर में निवास कर के जीवों को जो अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं उन सबसे छुड़ा कर स्वर्ग आदिक सुख को प्राप्त कराने के लिये मृत्यु ही समर्थ है इसी लिये ज्ञानी पुरुष मृत्यु को मित्र के समान जानते हैं ॥ १३ ॥

मृत्यु कल्प वृक्ष।

मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधितः।
निमग्नो जन्मजंबाले, स पश्चात् किं करिष्यति ॥ १४॥

अर्थ—जिस पुरुष ने मृत्यु रूपी कल्प वृक्ष को प्राप्त करके भी अपनी आत्मा का हित साधन नहीं किया वह फिर संसार रूपी कीचड़ में फंस कर अर्थात् दुर्गति में जाकर पाये हुये नीच शरीर में कैद हो जाने के बाद अपना क्या कल्याण कर सकेगा।

भावार्थ—मरते समय जो जीव अपने परिणामों को विशुद्ध रखता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है और जो मोह माया में फंसा कर मरता है वह दुर्गति में जाता है। इसलिये मरते समय जैसे बने वैसे प्रयत्न-पूर्वक विशुद्ध परिणाम रखने चाहिये ॥ १४ ॥

विना प्रयत्न सुन्दर शरीर व उत्तम इन्द्रियों की प्राप्ति।

जीर्णं देहादिकं सर्वं, नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय, सतां सातोत्थितिर्यथा १५

अर्थ—जिस मृत्यु के द्वारा जीर्ण—शीर्ण शरीर व शिथिल इन्द्रियां छूट जाती हैं और नवीन शरीर व उत्तम इन्द्रियां प्राप्त हो जाती हैं। साता वेदनीय कर्म के उदय की भाँति उस मृत्यु के आने पर जीवों को क्या हर्ष नहीं मानना चाहिये? किन्तु अवश्य मानना चाहिये।

भावार्थ—जैसे साता वेदनीय कर्मके उदय (फलदेने) से जीवों को अनेक प्रकार की सांसारिक सुख सामिग्री प्राप्त होती है। उसी तरह मृत्यु होने पर भी परलोक में व इस भव में किये हुए पुण्य कर्मों का उत्तम फल मिलता है। इसलिये जैसे साता कर्म के उदय को संसारी जीव चाहते हैं वैसे ही मृत्यु आने पर उसका भी हर्ष मानना चाहिये॥ १५॥

सुख दुःख आत्मा को होता है न कि शरीर को।

सुखं दुःखं सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेत्।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः॥१६॥

अर्थ—सुख दुःख का अनुभव शरीर में स्थित जो आत्मा है उसको होता है, शरीर को नहीं होता, और मृत्यु समय स्वयं शरीर से निकल कर परलोक में जाता ही है, यहीं रह कर शरीर की तरह नष्ट होता नहीं, फिर मृत्यु का भय वास्तव में किसको माना चाहिये? अर्थात् किसी को भी मानना नहीं चाहिये, क्योंकि जिस आत्मा को सुख दुःख होता है उसका तो मरने से कुछ बिगड़ता नहीं, और जो शरीर नष्ट होता है

उसको सुख दुःखका ज्ञान नहीं, इस लिये विना ज्ञानके शरीर को भय भी नहीं लग सकता, आत्मा शरीर के मोह से भय करता है सो उसको नवीन शरीर मिल जाने के कारण भय उचित नहीं॥ १६॥

मृत्यु, ज्ञानी को प्रमोद और अज्ञानी को शोकका कारण है।

संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनःसोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम् १७॥

अर्थ—जिन पुरुषों का चित्त संसार में आसक्त हो रहा है उनके लिये मृत्यु भय का कारण है और जो महात्मा पुरुष आत्मज्ञान में तल्लीन हैं तथा संसारसे उदास हैं उनको मृत्यु के आनेका भी हर्ष होता है, शोक नहीं होता ॥ १७ ॥

देहाधिपति की बेरोक यात्रा।

पुराधीशो यदा याति सुकृतस्य बुभुत्सया।
तदासौ वार्यते केन प्रपञ्चः पाञ्चभौतिकैः॥१८॥

अर्थ—इस शरीर रूपी नगर का मालिक यह आत्मा किये हुए पुण्य के फलको प्राप्त करने की इच्छा से जब परलोक यात्रा करता है तब यह पंच भूतमय शरीर उसको कदापि नहीं रोक सकता।

भावार्थ—जब तक इस जीव की इसलोक सम्बन्धी आयु

का उदय रहता है तभी तक शरीर आत्मा को क़ैद कर सकता है, और जिस समय यह आयु समाप्त हो जाती है व दूसरी आयुका उदय आजाता है उस समय आत्माको परलोक जाने से शरीर तो क्या बड़े २ इन्द्रादिक भी नहीं रोक सकते ? ॥११॥

मृत्यु समय की पीड़ा ज्ञानी को वैराग्य का कारण है।

मृत्युकाले सतां दुःखं, यद्भवेद् व्याधिसंभवम्।
देहमोहविनाशाय, मन्ये शिवसुखाय च॥ १९॥

अर्थ—मृत्यु समय में जो प्रायः रोग संबंधी पीड़ा होती है उसको भी ज्ञानी पुरुष शरीर से मोह त्यागने में कारण मानते हैं और परलोक के उत्तम सुखों का निमित्त जानते हैं, क्योंकि अनेक प्रकार के रोगों से जीर्ण शीर्ण दुर्गन्धित शरीर में निवास करने से उनको इस तरह की अरुचि हो जाती है जैसी कि एक उच्चकुलीन पवित्र पुरुष को चाण्डाल आदि के दुर्गन्ध मय घिनावने घर से होती है॥ १२॥

मृत्यु, को ज्ञानी सुख और अज्ञानी दुःख का कारण मानते हैं।

ज्ञानिनाऽमृत संगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन्।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत्पाकविधिर्यथा॥२०

अर्थ—अज्ञानी जीवों के मृत्यु दुःखदाई मालूम देने पर भी ज्ञानी पुरुषों को सुधामय सुखका कारण मालूम होती है।

क्योंकि वे जानते हैं कि जब तक कच्चा घड़ा अग्नि में नहीं पकाया जाता तब तक उसमें जैसे अमृत स्वरूप जल नहीं भरा जाता, उसी प्रकार मरण समय में होने वाले रोगादिकों की पीड़ा को शांति पूर्वक सहे बिना स्वर्ग मोक्ष के सुख नहीं मिल सकते, ऐसे विचारों के कारण ही ज्ञानी पुरुषों को मरण का दुःख नहीं होता ॥ २० ॥

कठिन तप व समाधि मरण के फल की समानता।

यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासाविडंबनात्।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना॥२१॥

अर्थ—जो फल बड़े बड़े व्रती पुरुषों को कायक्लेश आदि तप, व्रत आदि के धारण करने से प्राप्त होता है वह फल अंत समय में सावधानी पूर्वक किये हुए समाधि मरण से जीवों को सहज में ही प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—जो आत्म विशुद्धि अनेक प्रकार के कठिन व्रताचरण व तप करने से होती है वह मरण-समय में कुछ काल तक ही शांति धारण करने व संसार का मोह त्यागने से प्राप्त हो जाती है ॥ २१ ॥

शांति पूर्वक मृत्यु का फल।

अनार्त्तःशान्तिमान्मर्त्यो, न तिर्यग् नापि नारकः।
धर्मध्यानी पुरो मर्त्योऽनशनी त्वमरेश्वरः॥२२॥

अर्थ—जो पुरुष अंत समय में आर्त्त रौद्र परिणाम न कर के शांति पूर्वक मरण करता है वह तिर्यञ्चगति व नरकगति में नहीं जाता, और जो ज्ञानी जन धर्म ध्यान पूर्वक उपवास कर के परलोक यात्रा करते हैं वे स्वर्ग के इन्द्रआदि उत्तम पदों को प्राप्त करते हैं॥ २२॥

समाधि मरण से ही व्रत, तप व शास्त्रज्ञान सफल होते हैं।

तप्तस्य तपसश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि, फलं मृत्युः समाधिना॥२३॥

अर्थ—बहुत काल तक किये हुए उग्र तपों का, पाले हुये व्रतों का और निरंतर अभ्यास किये हुए शास्त्र ज्ञान का एक मात्र फल शांति पूर्वक आत्मानुभव करते हुए समाधि मरण करना है।

भावार्थ—यदि कोई पुरुष आयु पर्यन्त तप करके, व्रत पाल के व शास्त्राभ्यास करके भी मरण समय में मोह को घटा कर शांत परिणाम न कर सका तो उसका व्रतादिक पालने का सब परिश्रम एक तरह से व्यर्थ ही समझना चाहिये॥ २३॥

नवीन से प्रेम और पुराने से अरुचि।

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः
चिरतरशरीरनाशे, नवतरलाभे च किं भीरुः॥२४॥

अर्थ—संसारी जीवों का प्रायः ऐसा नियम है कि वे

अच्छी से अच्छी वस्तु का भी अत्यंत परिचय होने पर एक प्रकार से तिरस्कार करने लगते हैं, और नवीन वस्तु चाहे अच्छी भी न हो तो भी उसमें प्रीति किया करते हैं, इस नियम को लेकर शास्त्रकार संसारी जीवों से कहते हैं कि भाई मरने से तो तुम्हें पुराना शरीर छूट कर नवीन शरीर मिलता है फिर तुम मरने से क्यों डरते हो ॥ २४ ॥

स्वर्गादेत्य पवित्रनिर्मलकुले संस्मर्यमाणा जनैः।
दत्वा भक्तिविधायिनां बहुविधं वाञ्छानुरूपं धनम्
भुक्त्वा भोगमहर्निशं परकृतं स्थित्वा क्षणं मण्डले।
पात्रावेशविसर्जनामिव मृतिं सन्तो लभंते स्वतः२५

अर्थ—पहले श्लोकों में बताया है कि जो ज्ञानी महात्मा पुरुष मरण समय में धर्म ध्यान पूर्वक शान्तचित्त से व्रत उपवासादि करते हुये शरीर छोड़ते हैं। वे स्वर्गों में जाकर इन्द्रादिक की सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं, अब इस श्लोक में बताते हैं कि वे ही पुण्यात्मा पुरुष स्वर्ग की आयु समाप्त कर बड़े २ पवित्र जगत पूज्य उत्तम कुलों में अवतार लेकर अनेक उत्तम पुरुषों से पूजे जाते हैं अर्थात् तीर्थंकरादि पद प्राप्त करते हैं, और कुछ काल पृथिवी मंडल में विराजमान रहकर पुण्योदय से उपार्जित अनेक उत्तमोत्तम भोगों को निरंतर भोगते हुये तथा भक्त पुरुषों को मनोवांछित फल देते हुए, अंत में तप करके जगत को एक प्रकार का नाटक सा दिखा कर व अनादि कालीन कार्माण शरीर के संबंध को भी छोड़ कर परमानन्द मय परमपद को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥

इति शुभम्।

॥ श्रीः ॥

समाधि-शतक

श्री पूज्यपाद स्वामी विरचित।

मोक्षार्थी पुरुषों को मोक्ष का स्वरूप बताने की इच्छा रखने वाले श्री पूज्यपाद स्वामी प्रारम्भ में मंगला चरण रूप श्री सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करते हैं:—

येनात्माऽबुध्यतात्मैव, परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयाऽनन्तबोधाय, तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

अन्वयार्थ—(येन आत्मा आत्मा एव अबुध्यत) जिसने आत्मा को आत्मा ही जाना है (च अपरं परत्वेन एव) और पर को पर रूप से ही जाना है (तस्मै अक्षयानन्तबोधाय सिद्धात्मने नमः) उस अविनश्वर व अनन्त ज्ञान वाले सिद्ध परमेष्ठी के लिये नमस्कार हो ॥ १ ॥

श्री अरहंत परमेष्ठी को नमस्कार।

जयन्ति यस्या ऽवदतो ऽपि भारती,
विभूतयस्तीर्थकृतो ऽप्यनीहितुः।

शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे,
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अवदतः अपि अनीहितुः अपि यस्य तीर्थकृतः) तालु, ओष्ठ आदि के द्वारा वचन को उच्चारण नहीं करते हुए भी और जगत के हित की इच्छा न रखते हुये भी जिस तीर्थंकर भगवान की (भारती विभूतयः जयन्ति) वाणी की-सब जीवों का हित प्रतिपादन रूपी-विभूति अथवा वाणी और समवशरणादि विभूति जय को प्राप्त होती हैं। (तस्मै शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय सकलात्मने नमः अस्तु) उस कल्याणरूप, असि, मसि, कृषि आदि के उपदेश द्वारा जगत का उद्धार करने वाले, अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करने वाले, केवल ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों में व्यापने वाले, और घातिया कर्मों को जीतने वाले, दिव्य शरीर धारी परमात्मा के लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥

ग्रन्थ बनाने की प्रतिज्ञा।

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति
समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां,
विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—अब इष्टदेव को नमस्कार करने के अनन्तर

(विविक्तं आत्मानं) कर्ममल रहित आत्मा के स्वरूप को (श्रुतेन लिंगेन समाहितान्तः करणेन सम्यक् समीक्ष्य) शास्त्र के द्वारा, हेतु के द्वारा, और एकाग्र मन से प्राप्त किये अनुभव के द्वारा सम्यक् प्रकार जानकर (कैवल्य सुखस्पृहाणां) सकल कर्म के अभाव रूप कैवल्य पद और अनंत सुख की इच्छा रखने वालों के लिये (यथात्मशक्ति अभिधास्ये) अपनी ज्ञानशक्ति को न छिपाकर कहूंगा ॥ ३ ॥

आत्मा के भेद ।

बहिरन्तः परश्चेति, त्रिधात्मा सर्व देहिषु ।
उपेयात्तत्र परमं, मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(सर्व देहिषु बहिःअन्तः च परः इति त्रिधा आत्मा) सर्व जीवों में बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्मा इस प्रकार आत्मा की तीन अवस्था होती हैं। (तत्र मध्योपायात् बहिः त्यजेत् परमं उपेयात्) उनमें अन्तरात्माको साधनरूप मानकर बहिरात्मा अवस्था को छोड़ना चाहिये और परमात्म अवस्था को प्राप्तकरना चाहिये।

भावार्थ—प्रत्येक संसारी जीव मिथ्यात्व अवस्था में बहिरात्मा, सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर अंतरात्मा, केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने पर परमात्मा हो सकता है। अभव्य जीवों में भी अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्था शक्ति रूप से है परन्तु अभव्यों में इन दोनों अवस्थाओं के व्यक्त होने की योग्यता नहीं है।

यदि ऐसा न माना जायगा तो फिर अभव्योंमें केवल ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध व्यर्थ हो जायगा। सर्वज्ञ में भी भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा बहिरात्मावस्था व अंतरात्मावस्था सिद्ध होती है। इन तीनों अवस्थाओं में से जिन संसारी जीवों के बहिरात्मावस्था व्यक्त हो रही है उनको प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त कर बहिरावस्था को त्याग अपनी अन्तरात्मावस्था व्यक्त करनी चाहिये ॥ ४ ॥

प्रत्येक अवस्था का लक्षण।

बहिरात्मा शरीरादौ, जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः, परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

अन्वयार्थ—(शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा) शरीर और आदि शब्द से लिये हुए वचन व मन में उत्पन्न हो रहा है आत्मा का भ्रम जिसको वह बहिरात्मा है (चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः आन्तरः) और जिसको चित्त के विकल्प रागादिक दोष व आत्मा के स्वरूप के विषय में कुछ भी भ्रान्ति अर्थात् अज्ञान नहीं है वह अंतरात्मा है (अतिनिर्मलः परमात्मा) और जिसकी आत्मा अत्यन्त निर्मल हो गई है वह परमात्मा है ॥ ५ ॥

परमात्मा वाचक नाम।

निर्मलः केवलः शुद्धो, विविक्तः प्रभुरव्ययः।

परमेष्ठी परात्मेति, परमात्मेश्वरो जिनः॥ ६॥

अन्वयार्थ—(निर्मलः) कर्मरहित (केवलः) शरीरादि संबंध रहित (शुद्धः) द्रव्यकर्म व भाव कर्म के नाश हो जाने से परम विशुद्धता युक्त (विविक्तः) शरीर और कर्म दोनों से रहित (प्रभुः) इन्द्रादिक का स्वामी (अव्ययः) प्राप्त हुए अनंत चतुष्टय से च्युत नहीं होने वाले (परमेष्ठी) इन्द्रादिक से भी वन्दनीक परमपद में स्थित रहने वाला (परमात्मा) संसारी जीवों से उत्कृष्ट जिसका आत्मा है। (ईश्वरः) अंतरंग अनंत चतुष्टय और वाह्य समवशरणादि ऐश्वर्य से जो युक्त है (जिनः) कर्मों को जीतने वाला (इति परमात्मा) इस प्रकार बहुत से परमात्मा के वाचक शब्द होते हैं॥ ६॥

वहिरात्मा को शरीरादिक में आत्म बुद्धि होने का हेतु।

वहिरात्मेन्द्रियद्वारै,रात्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाऽध्यवस्यति॥७॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियद्वारैः "वहिर्थग्रहणे" स्फुरितः वहिरात्मा आत्म ज्ञानपराङ्मुखो "भवति") इंद्रियों के द्वारा वाह्य पदार्थों को ग्रहण करने में ही लगे रहने के कारण यह वहिरात्मा आत्म ज्ञान से पराङ्मुख रहता है ("ततएव" च आत्मनः देहं आत्मत्वे न अध्यवस्यति") और इसी लिये अपने शरीर को आत्मा समझता है॥ ७॥

आत्मा में मनुष्यादिक की कल्पना।

नरदेहस्थमात्ममानमविद्वान् मन्यते नरम् ।
तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं, सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥ ८ ॥
नारकं नारकांगस्थं, न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनन्तानन्तधीशक्तिः, स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(अविद्वान् नरदेहस्थं आत्मानं नरं) बहिरात्मा मनुष्य के शरीर में स्थित आत्मा को मनुष्य और (तिर्यङ्गस्थं तिर्यञ्चं तथा सुरास्थं सुरंमन्यते) तिर्यञ्च के शरीर में स्थित आत्मा को तिर्यञ्च तथा देव के शरीर में स्थित आत्मा देव मानता है।

(एवमेव नारकाङ्गस्थं आत्मनं नारकं मन्यते) इसी प्रकार नारकों के शरीर में स्थित आत्मा को नारकी मानता है (तत्त्वतः स्वयं तथा न) परन्तु यह आत्मा परमार्थ से स्वयं ऐसा नहीं है।

भावार्थ—मनुष्य गति मनुष्य आयु आदिक कर्मों के उदय के निमित्त से ही जीवों में मनुष्य तिर्यञ्च आदि का व्यवहार होता है वास्तव में यह जीव कर्म निमित्त बिना स्वयं मनुष्यादि रूप नहीं है किंतु यह वास्तव में (अनन्तानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्यः अचलस्थितिः) अनन्तानंत ज्ञानवाला अनन्तानन्त बल वाला तथा अपने द्वारा ही जानने योग्य और अपने स्व-

रूप में ही निश्चल स्थित रहने वाला है ॥ ८ ॥ ९ ॥

पर के शरीर में परात्म बुद्धिः।

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा, परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः, परत्वेनाऽध्यवस्यति ॥१०॥

अन्वयार्थ—(मूढःस्वदेहसदृशं परात्माधिष्ठितं अचेतनं परदेहं दृष्ट्वा परतत्वेन अध्यवस्यति) बहिरात्मा अपने शरीर के समान दूसरों की आत्मा से युक्त दूसरों के अचेतन शरीर को भी दूसरों का आत्मा समझता है अर्थात् बहिरात्मा जैसे अपने शरीर को अपना आत्मा मानता है उसी प्रकार स्त्री पुत्रादिक के शरीरको स्त्री पुत्रादिक का आत्मा मानता है ॥१०॥

ऐसा मानने से क्या होता है।

स्वपराऽध्यवसायेन, देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्त्तते विभ्रमः पुंसां, पुत्रभार्यादिगोचरः ॥११॥

अन्वयार्थ-(अविदितात्मनां पुंसां देहेषु स्वपराध्यवसायेन पुत्रभार्यादि गोचरः वर्त्तते) आत्मस्वरूप को नहीं जाननेवाले पुरुषों को अपने और परके शरीर में ही अपनी और परकी आत्मा के निश्चय होने से पुत्र स्त्री आदि के विषय में विभ्रम होता है। अर्थात् मूढ जीव अपने शरीर के साथ स्त्री पुत्रादि के शरीर के सम्बन्ध को ही अपनी आत्मा का सम्बन्ध सम-

भता है और इसी लिये उनको अपना उपकारक समझता है तथा उनके संयोग में सुखी व वियोग में दुःखी होता है ॥११॥

ऐसे विभ्रम से और क्या होता है।

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः ।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(तस्मात् अविद्यासंज्ञितः दृढः संकारःजायते) उस विभ्रम से अज्ञानात्मक दृढ़ संस्कार उत्पन्न हो जाता है (येन लोकः अंगं एव पुनः अपि स्वं अभिमन्यते) जिसके कारण यह संसारी जीव अपने शरीर को ही फिर परलोक में भी अपना आत्मा मानता है। अर्थात् शरीरको आत्मा माननेका यह मिथ्या संस्कार परलोकमें भी आत्माके साथ जाता है १२।

देह में आत्म बुद्धि होने से और क्या असर होता है।

देहेस्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।
स्वात्मन्येवाऽऽत्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् १३

अन्वयार्थ—(देहे स्वबुद्धिः निश्चयात् आत्मानं एतेन युनक्ति) शरीर में आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा, निश्चय से अपनी आत्मा को शरीर से सम्बन्ध करता है (स्वात्मनि एव आत्मधीः तस्मात् देहिनं वियोजयति) और अपनी आत्मा में ही आत्मबुद्धि रखने वाला सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा, अपनी

आत्मा को शरीर से पृथक् करता है। अर्थात् शरीरको आत्मा मानने से आत्मा के साथ नवीन २ शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है जिसके कारण यह मूढ़ जीव निरंतर संसारमें रुलता है और जब शरीरादि से ममत्व छूट कर आत्मा में ही आत्म बुद्धि उत्पन्न हो जाती है तब यह जीव सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा हो जाता है और ध्यानादिक का सतत अभ्यास करके शरीरादिक से सम्बन्ध छुड़ाकर अपने आत्मा को मुक्त कर लेता है १३॥

शरीर को आत्मा मानने वालों पर करुणाभाव।

देहेष्वात्मधिया जाता पुत्रभार्यादिकल्पना।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत्॥१४॥

अन्वयार्थ—(देहेषु आत्मधिया पुत्रभार्यादिकल्पना जाता) शरीर मे आत्म बुद्धि होने से पुत्र, स्त्री आदिक की कल्पना होती है (हा हतं जगत् ताभिः आत्मनः सम्पत्तिं मन्यते) खेद है कि इस प्रकार मोह से अपने असली आनंद को भूल कर यह मूढजीव स्त्री पुत्रादिक के द्वारा ही अपने को समृद्धिशाली मानता है। अर्थात् जब तक इस संसारी जीवको मिथ्यात्व के उदय से अपनी अनंत चतुष्टयरूपी सम्पत्ति का ज्ञान नहीं होता तब तक यह स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादिक बाह्यपदार्थों को ही अपने मान कर उनमें रमा रहता है और मिथ्या अहंकार वश सुख दुःख मानता रहता है॥ १४॥

बहिरात्मा को अन्तरात्मा होने की शिक्षा।

मूलं संसारदुःखस्य, देह एवात्मधीस्ततः

त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(देहे आत्मधीः एव संसारः दुःखस्य मूलं) शरीर में आत्मबुद्धि का होना ही संसार के दुःखों का मूल कारण है (ततः एनां त्यक्त्वा बहिः अव्यापृतेन्द्रियः अन्तः प्रविशेत) इसलिये शरीर में आत्म बुद्धि को छोड़ कर और इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोक कर अंतरंग में प्रवेश करना चाहिये।

भावार्थ—जितने भी संसार के प्रपंच हैं वे सब इस शरीर के साथ हैं, जब तक जीव इस शरीर को अपना मानता रहेगा तब तक यह संसार के दुःखदाई जंजाल से कभी नहीं छूट सकता। इसी कारण इस अपूर्व गून्थ में ग्रन्थकार ने समस्त दुःखों की जड़ जो शरीर में आत्मबुद्धि का होना है उसके छुड़ाने के लिये ही अधिक ज़ोर दिया है ॥१५॥

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम् ।
तान् प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(अहं पुरा मत्तः च्युत्वा इन्द्रियद्वारैः विषयेषु पतितः) अन्तरात्मा अपनी पहली अवस्था को विचारता है कि मैं अनादिकाल से अब तक व्यर्थ ही अपने स्वरूप से च्युत होकर इन्द्रियों के द्वारा विषय कूप में पड़ा रहा (तान् अहं इति प्रपद्य तत्त्वतः मां न वेद) और उन विषयों को ही

अपना स्वरूप समझ कर वास्तव में अपनी आत्मा को आज तक मैंने नहीं पहिचाना।

भावार्थ—जब तक जीव को अपनी असली रत्नत्रय रूप वा अनंत चतुष्टय रूप सम्पत्ति का परिज्ञान नहीं होता तब तक ही वह बाह्य विषयों को सुखदायक समझता है और जब इसे अपने असली सुधारसका कुछ भी स्वाद आ जाता है तब बाह्य विषय उसे विष सरीखे मालूम पड़ने लगते हैं। इसी कारण जो जीव प्रथम विषय भोगों को सुख रूप मान कर सेवन करता था वही अब पहले भोगे हुए विषयों पर भी पश्चात्ताप करने लगता है॥ १६॥

आत्मज्ञान का उपाय।

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं, त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन, प्रदीपः परमात्मनः॥१७॥

अन्वयार्थ—(एवं बहिर्वाचं त्यक्त्वा अन्तः अशेषतः त्यजेत्) आगे के श्लोकों में कही जाने वाली रीति के अनुसार बाह्य वचन को छोड़कर अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन धान्यादिक मेरे हैं इस प्रकार के मिथ्या प्रलाप को त्याग कर, अन्तरंग वचन को भी समस्त रूप से छोड़ना चाहिये, अर्थात् मैं सुखी हूं, दुखी हूं, दूसरों का गुरु हूं, व शिष्य हूं, इस प्रकार के आत्मविषयक मिथ्या विकल्प रूप अंतरंग वचन को भी छोड़ना चाहिये (एष समासेन योगः परमात्मनः प्रदीपः) यह संक्षेप

से कही हुई बाह्य व अभ्यन्तर के वचन के त्याग रूप, चित्त को विषयों से रोकने वाली समाधिही वास्तव में परमात्म-स्वरूप को प्रकाशने के लिये दीपक के समान है ॥ १७ ॥

बाह्य वचन को छोड़ने का उपाय।

यन्मया दृश्यते रूपं, तन्न जानाति सर्वथा
जानन्न दृश्यते रूपं, ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(मया यत् दृश्यते, तत् सर्वथा न जानाति) इन्द्रियों के द्वारा मुझे जो शरीरादिक रूपी पदार्थ दिखाई देते हैं, वे किसी भी पदार्थ को बिल्कुल नहीं जानते (जानत रूपं दृश्यते न) और जो पदार्थों को जानने वाला चेतनद्रव्य आत्मा है, वह मुझे इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता (ततः अहं केन ब्रवीमि) इस लिये मैं बात चीत करूं तो किससे करूं।

भावार्थ—जो अपने अभिप्राय को समझे उसी के साथ बात चीत की जा सकती है, लकड़ी पत्थर आदि जड़ पदार्थों से कोई वचन व्यवहार नहीं करता, इस बात को लेकर अंतरात्मा अपने मन को समझता है कि दूसरों का आत्मा तो मुझे दिखाई देता ही नहीं और शरीर दिखाई देता है। वह कुछ जानता नहीं, फिर मैं शरीरादिक जड़ पदार्थोंसे क्या बात करूं? अर्थात् मुझको चुप चाप रहना ही मुनासिब है। ग्रन्थकार ने इस श्लोक में वचन गुप्ति पालने का और बाह्य की झंझटों से छूटने का एक उत्तम उपाय बताया है ॥१८॥

अंतरंग वचन को छोड़ने का उपाय

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं, यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे, यदहं निर्विकल्पकः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(अहं परैः यत् प्रतिपादये) मैं अध्यापकों से पढ़ने योग्य हूं, अथवा मैं शिष्यों को पढ़ाता हूं, इसी प्रकार और भी मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, राजा हूं, रंक हूं, इत्यादि अनेक प्रकार के आत्म विषयक संकल्प विकल्पों का जो करना है (तन् मे उन्मत्तचेष्टितं, यत् अहं निर्विकल्पकः) वह सब मेरी पागलों सरीखी चेष्टा है क्योंकि मैं तो वास्तव में निर्विकल्पक हूं।

भावार्थ— जीव का असली स्वरूप इन अनेक प्रकार के वचन-विकल्पों के गोचर वास्तव में न होने पर भी जो यह मूढ़ जीव भ्रम वश सुखी-दुःखी, राजा-रंक, गुरु-शिष्य, आदि की अनेक मिथ्या कल्पनायें आत्मा में करता रहता है, यही अंतरंग वचन-विकल्प हैं जो कि आत्मा के लिये अत्यन्त दुखदाई हैं, इसलिये अपनी आत्मा को वास्तव में इन विकल्पों से रहित समझ कर इन विकल्पों को छोड़ना चाहिये॥ १९॥

विकल्प रहित आत्मा का असली स्वरूप

यदग्राह्यं न गृण्हाति, गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं, तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहं ॥२०॥

अन्वयार्थ—(यत् अग्राह्यं न गृण्हाति) जो शुद्ध आत्मा, अग्राह्य रागद्वेषादिक को तो ग्रहण नहीं करता और (गृहीतं न अपिमुञ्चति) ग्रहण किये हुए केवल ज्ञानादिक का त्याग नहीं करता किन्तु (सर्वं सर्वथा जानाति) सम्पूर्ण पदार्थों को सर्व प्रकार से जानता है (अहं तत् स्वसंवेद्यं अस्मि) मैं वही अपने द्वारा ही अनुभव में आने योग्य चेतन द्रव्य हूं।

भावार्थ—जब तक यह आत्मा केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र आदि अपने असली गुणों को विकसित न करके रागी द्वेषी बना रहता है तब तक यह अशुद्ध कहलाता है और जब राग द्वेषादि विभावों को छोड़ कर अपने असली गुणों को प्राप्त कर लेता है तब सम्पूर्ण पदार्थों का केवल ज्ञातामात्र रह जाता है बाह्य पदार्थों वा अपने रागादिक विकारों का कर्त्ताभोक्ता नहीं रहता, और यही जीव का असली स्वरूप है॥ २०॥

आत्मज्ञान होने से पूर्व की चेष्टा।

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः, स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं, देहादिष्वात्मविभ्रमात्॥२१॥

अन्वयार्थ—(स्थाणौ उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः यद्वत् विचेष्टितम्) स्थाणु में पुरुष की भ्रान्ति हो जाने वाले मनुष्य की जैसी चेष्टा होती है (देहादिषु आत्मविभ्रमात् मे पूर्वं तद्वत् चेष्टितम्) शरीरादिक में आत्मा का भ्रम रहने से, मेरी भी, पहले शरीरादिक के विषय में वैसी ही चेष्टा थी।

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष भ्रम से वृक्ष के ठूंठ को मनुष्य मान कर उसके उपकारादि करने का विचार करने लगता है उसी प्रकार मैं भी भ्रम से, पहले शरीरादिक को आत्म मान कर उनके उपकारादिक में लगा हुआ था ॥ २१ ॥

आत्मज्ञान होने के बाद की चेष्टा।

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ, निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ, विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥२२

अन्वयार्थ—(असौ स्थाणौ पुरुषाग्रहे निवृत्ते यथा चेष्टते) यह मनुष्य स्थाणु में पुरुष का भ्रम दूर होने पर जिस प्रकार उपकारादि के त्याग की चेष्टा करता है (देहादौ विनिवृत्ता त्मविभ्रमः तथा चेष्टः अस्मि) शरीरादि में आत्म-भ्रम दूर होने पर मैं भी उसी प्रकार चेष्टा करने लगा हूं।

भावार्थ—जब स्थाणु को स्थाणु पहिचान कर उसमें से पुरुष विषयक अज्ञान दूर हो जाता है तब वह ज्ञानी मनुष्य उसके विषय में उपकारादिक की कल्पना भी छोड़ देता है क्योंकि उपकार करने का विचार स्थाणु को पुरुष मान कर हुआ था बाद में निश्चय होने पर वह पुरुष निकला नहीं. तब उपकार किसका किया जाता, इसी तरह इस जीव को जब सम्यक्त्व हो जाने से शरीरादि में आत्म-भ्रम नहीं रहता तब वह हृदय से शरीर के संस्कारादि करने में भी उपेक्षा करने लगता है ॥ २२ ॥

शुद्ध आत्मा में स्त्री आदि लिंग और एकत्व आदि संख्या नहीं है।

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ, नैको न द्वौ न वा बहुः२३

अन्वयार्थ—(येन आत्मना आत्मना आत्मनि एव आत्मना अहं अनुभूये) जो मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा अपनी आत्मामें ही अपने स्वसंवेदन ज्ञान करके अपनी आत्मा को अनुभव करता हूं (सोऽहं, न तत्, न सा, न असौ, न एकः, न द्वौ, वा न बहुः) वह शुद्धस्वरूप मैं आत्मा, न तो नपुंसक हूं, न स्त्री हूं, न पुरुष हूं, न एक रूप हूं, न दो रूप हूं, न बहु रूप हूं।

भावार्थ—जीव में स्त्री पुरुष आदिक का व्यवहार केवल शरीर के सम्बन्ध को लेकर होता है और एक पने दो पने बहु पने का व्यवहार गुण-गुणी की भेदाभेद विवक्षा को ले कर होता है। शुद्ध आत्म के अनुभव की दशा में न शरीर की कल्पना है और न भेदा-भेद की विवक्षा है वहां तो केवल यह आत्मा अपने ज्ञानानंद रस का परम तृप्ति के साथ पान करता रहता है, इसलिये वहां ये बाह्य कल्पना नहीं उठतीं ॥ २३ ॥

शुद्ध आत्मा का स्वरूप।

यदभावे सुषुप्तोऽहं, यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं, तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(यदभावे अहं सुषुप्तः, पुनः यद्भावे व्युत्थितः) जिस शुद्ध आत्म स्वरूप के प्राप्त न होने से मैं अब तक सोता रहा, और अब जिसके प्राप्त होने से जाग गया हूँ, (अहंतत् अस्मि) मैं उसी शुद्ध स्वरूप वाला हूं ("तच्च" अतीन्द्रियं, अनिर्देश्यं, स्वसंवेद्यं) और वह शुद्ध स्वरूप न इन्द्रियों से जानने योग्य है, और न वचन से कहने योग्य है किन्तु अपने आप ही अनुभव में आने योग्य है।

भावार्थ—जब तक इस जीव को अपने शुद्ध-स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती तब तक यह एक प्रकार की अज्ञान निद्रा में पड़ा रहता है, और जब अज्ञान का नाश होकर शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है तभी यह वास्तव में जागता हुआ कहलाता है ॥ २४ ॥

"शुद्धात्मस्वरूप का संवेदन करनेवाले की आत्मा में रागादिक का अभाव हो जाने से शत्रु-मित्र की कल्पना नहीं रहती, अब इसी बात को दिखाते हैं।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वतः बोधात्मानं मां प्रपश्यतः "मम" अत्र एव रागाद्याः क्षीयन्ते) वास्तव में शुद्ध ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा का अनुभव करने लगने से इसी जन्म में रागद्वेष

आदि नष्ट हो जाते हैं। ततः न मे कश्चित् शत्रुः न च प्रियः) इस लिये न कोई मित्र मालूम पड़ता है और न कोई शत्रु दिखाई देता है।

भवार्थ—जब तक इस जीवको अपने चिदानंदमय सुधा-रस का स्वाद नहीं आता तब तक यह बाह्य पदार्थों को अपनी रागद्वेषादि रूपी अग्नि के शमन करने का उपाय समझ, उनकी प्राप्ति के लिये भटकता फिरता रहता है, और अनुकूल सामग्री के बाधक-साधक जीवों को शत्रु-मित्र मानता रहता है, और जब इसको अपने स्वाभाविक सुधारस का स्वाद आने लगता है तब बाह्य पदार्थों में व उनके साधक-बाधक जीवों में इसकी उपेक्षा बुद्धि हो जाती है। इस कारण उस समय यह न तो किसी को मित्र समझता है और न शत्रु मानता है, क्योंकि मित्र की कल्पना राग-द्वेष के कारण होती है और उपेक्षा होजाने से राग-द्वेष बाह्य पदार्थों में उसके रहते नहीं॥ २५॥

यद्यपि ऐसी दशा में अब किसी ने यह प्रश्न किया कि तुम्हारा कोई शत्रु-मित्र नहीं रहता, किन्तु तुमको दूसरे पुरुष तो शत्रु-मित्र मान सकते हैं? इसी का उत्तर:—
स्वात्म संवेदन वाला इस प्रकार देता है।

मामपश्यन्नयं लोको, न मे शत्रु न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको, न मे शत्रु न च प्रियः॥२६॥

अन्वयार्थ—(मां अपश्यन् अयं लोकः न मे शत्रुः न च प्रियः) मेरे स्वरूप को विना जाने यह जगत् मुझे शत्रु अथवा मित्र नहीं मान सकता (मां प्रपश्यन् अयं लोकः न मे शत्रुः न च प्रियः) और मेरे स्वरूप को जान कर भी यह जगत मुझे शत्रु वा मित्र नहीं मान सकता।

भावार्थ—स्वात्म संवेदी का यह कहना है कि परिचित व्यक्ति में ही शत्रु वा मित्र की कल्पना हुआ करती है अपरिचित में नहीं होती, इसलिये प्रथम तो ये संसारी जीव मेरे स्वरूप को जानते ही नहीं तव फिर मेरे में ये शत्रु मित्र की कल्पना ही क्याकर सकते हैं, और कदाचित् यह माना जाय कि जानते हैं तो भी इनको शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव हो जाने से मेरे में उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न हो जायगी, तव भी ये मुझ में शत्रु-मित्र की कल्पना नहीं कर सकेंगे।

वहिरात्मावस्था का त्याग और परमात्मपद की भावना का उपदेश।

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(एवं वहिरात्मानं त्यक्त्वा अन्तरात्मव्यवस्थितः सर्वसंकल्पवर्जितं परमात्मानं भावयेत्) इस प्रकार पूर्व लिखे क्रमानुसार वहिरात्मपने का त्याग करके अन्तरात्मा वनना चाहिये और सव प्रकार के संकल्प-विकल्पों से रहित

परमात्मपद की प्राप्ति के लिये भावना करनी चाहिये ॥ २७ ॥

परमात्मपद की भावना का फल।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥२८॥

अन्वयार्थ—(पुनः तस्मिन् भावनया सः अहं इति आत्त-संस्कारः) वार २ परमात्मपद की भावना करते रहने से "वह परमात्मा मैं ही हूं" इस प्रकार का दृढ़ संस्कार आत्मा में उत्पन्न हो जाता है (तत्र एव दृढ़संस्कारात् हि आत्मनि स्थितिं लभते) और परमात्म स्वरूप का दृढ़ संस्कार उत्पन्न होने से यह जीव निश्चय से अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

भावार्थ—उक्त प्रकार की दृढ़ भावना के अभ्यास से जब इस जीव की परमात्मपद के साथ एकत्व बुद्धि हो जाती है तब यह जीव अपने को केवल ज्ञानमयी व अनंतसुख सम्पन्न समझने लगता है, और जब यह अपने को सर्वज्ञ व अनंत सुखी मानने लगता है, तब छोटे-मोटे काल्पनिक सुख के कारण भूत बाह्य पदार्थों से इसका ममत्व स्वयं ही छूट जाता है जिसके कारण इसके राग-द्वेष मंद होते २ नष्ट हो जाते हैं और इसको परमात्म पद की प्राप्ति हो जाती है ॥ २८ ॥

यहां किसी का प्रश्न है कि परमात्मा की भावना करना तो

बड़ा कठिन है तब फिर जीवों की परमात्म-भावना में प्रवृत्ति क्यों होती है ?-इसका उत्तर रूप श्लोक कहते हैं।

मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९॥

अन्वयार्थ—(मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तः ततः अन्यद् भयास्पदं न) यह मूढ़ जीव जिन, शरीर स्त्री पुत्रादिक बाह्य पदार्थों का विश्वास करता है, वे ही सबसे अधिक इसके लिये दुःख के कारण हैं इनके समान और कोई इसके लिये दुःखदाई नहीं है (यतः भीतः ततः अन्यद् अभयस्थानं आत्मनः न) और जिस परमात्म स्वरूप के संवेदन करने में यह जीव भय करता है दुःख मानता है; उसके समान और कोई पदार्थ आत्मा के लिये सुखदाई नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्प से काटे हुए पुरुष को कड़ुवा नीम भी स्वादिष्ट मालूम देता है उसी तरह विषय कषायों में फंसे हुये पुरुष को शरीरादिक बाह्य पदार्थ मनोहर दिखाई देते हैं और जैसे ज्वर की बीमारी में उत्तम मिठाई भी अरुचिकर मालूम होती है उसी तरह मूढ़ जीव को परमात्मा का अनुभव करने में भी कष्ट मालूम देता है, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो परमात्मानुभव के समान सुखदाई और शरीरादिक के समान दुःखदाई और कोई नहीं है। क्योंकि यह जीव अनादिकाल से अब तक शरीरादिक को आत्मा मान

कर तथा परमात्मा का स्वरूप न पहिचान कर ही दुःख भोग रहा है ॥ २६ ॥

परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय।

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य, स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति, तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

अन्वयार्थ—(सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेन अन्तरात्मना क्षणं पश्यतो यत् भाति तत् परमात्मनः तत्त्वम्) सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने २ विषयों से रोक कर स्थिर मन के द्वारा अनुभव करने से जो चिदानन्दमय आत्मस्वरूप प्रतिभास में आता है, वही परमात्मा का असली स्वरूप है।

भावार्थ—परमात्मपदकी प्राप्ति के लिये इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोकना चाहिये और मन को परमात्म स्वरूप की भावना में तन्मय करना चाहिये ॥ ३० ॥

परमात्मपद की प्राप्ति के लिये किसकी उपासना करना चाहिये?

यः परात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ३१

अन्वयार्थ—(यः परात्मा, स एव अहं; यः अहं स परमः) जो परमात्मा है वही मैं हूं; अथवा जो मैं हूं; वही परमात्म

है (ततः अहं एव मया उपास्यः; अन्यः कश्चित् न इति स्थितिः) इस लिये मैं ही अपने द्वारा उपासना करने योग्य हूं अन्य कोई मेरे द्वारा उपास्य नहीं है ।

भावार्थ—सिद्ध परमेष्ठी के समान अपनी आत्मा को भी शुद्ध बुद्ध मानकर जब यह अन्तरात्मा काभेद, भावना करते २ अपने शुद्ध स्वरूप में लीन होजाता है तभी परमात्म-पद को प्राप्त कर सकता है इस लिये मुक्त-पद प्राप्त करने के लिये निश्चय नय से ध्यान करने योग्य या उपासना करने योग्य अपना शुद्धात्मा ही समझना चाहिये ॥ ३१ ॥

इसी बात को दिखाते हैं ।

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं, मां मयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि, परमानंदनिर्वृतम् ॥३२॥

अन्वयार्थ—(अहं मयि स्थितं बोधात्मनं परमानंदनिर्वृतं मां विषयेभ्यः प्रच्याव्य मया एव प्रपन्नोऽस्मि) मैंने अपने में ही बिराजमान ज्ञान स्वरूप व परमानंदसम्पन्न अपने आत्मा को विषयों से छुड़ाकर अपने आपही प्राप्त किया है ।

भावार्थ—जिस परमात्म पद या मुक्त पद को यह जीव प्राप्त करना चाहता है वह परमात्मपद शक्ति रूप से इस आत्मा में ही है । और उसके उद्योग से ही इसको प्राप्त हो सकता है । किसी ईश्वर आदि के पास वह संग्रह रूप से

मौजूद नहीं है जिसको कि वह प्रसन्न होकर अपने सेवकों को दे सके। दूसरे परमात्माओं से हम केवल इस विषय में यही लाभ उठा सकते हैं कि अरहंत (जीवनमुक्त) अवस्था में ठिये हुए परमात्म पद के साधनभूत उनके उपदेश का मनन करें और जिस ध्यान मुद्रा से उन्हों ने परमात्म पद प्राप्त किया है उस दिव्य देह का या उसकी प्रतिबिंब का चित्र अपने हृदय पर अंकित करें और बाद में अपनी भी उसी प्रकार की ध्यान मुद्रा बनाकर तथा उनके बताये हुए साधनों का उपयोग में लाकर स्वयं परमात्म पद प्राप्त करें ॥३२॥

आत्मा को शरीर से भिन्न न जानने से हानि।

यो न वेत्ति परं देहा, देवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं, तप्त्वाऽपि परमं तपः॥३३

अन्वयार्थ—(एवं यः अव्ययं आत्मानं देहात् परं न वेत्ति, सः परमं तपः तप्त्वाऽपि निर्वाणं न लभते) इस पूर्वोक्त कथनानुसार जो पुरुष अपने अविनश्वर आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानता है वह उग्र तप को करके भी मुक्ति को नहीं प्राप्त कर सकता।

भावार्थ—जो पुरुष आत्मा के असली स्वरूप को न जानकर इस नश्वर शरीर को ही आत्मा मान रहा है वह मुक्ति को भी अन्य बाह्य पदार्थों की तरह विषय-सुख का साधन समझ कर यदि उसकी प्राप्ति के लिये कठिन से कठिन तप भी

करे तो क्या उसको मुक्ति मिल सकती है ? ॥३३॥

यहां किसीकी शंका है कि मुक्तिके लिये तो बड़े २ कठिन तप करने बताये हैं और कठिन तप करनेसे चित्तमें खेद होता है तब फिर तपकरनेसे मुक्ति कैसे प्राप्तहो सकती है? उत्तर—

आत्म देहान्तर ज्ञानजनिताल्हाद निर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं, भुञ्जानोऽपि नखिद्यते ॥३४॥

अन्वयार्थ—(आत्म देहान्तर ज्ञानजनिताऽल्हादनिर्वृतः तपसा घोरं दुष्कृतंभुञ्जानः अपि न खिद्यते) जो पुरुष आत्मा और शरीर के भेद ज्ञान से उत्पन्न हुए आनंद में मग्न हो रहा है वह तप के द्वारा उदय में लाये हुए दुःखदाईसे दुःखदाई कर्मों के फल को भोगते हुए भी दुःखी नहीं होता है।

भावार्थ—जिस समय इस जीव के अनुभव में आत्मा और शरीर भिन्न २ दिखाई देने लगते हैं उस समय इसकी समस्त चिंताएं दूर हो जाती हैं क्यों कि जितने भर भी संसार के दुःख हैं वे सब शरीर को अपना जानने से ही होते हैं। भूख, प्यास, रोग, शोक व जीने-मरने के दुःख शत्रु, सर्प आदि का भय, गर्मी—सर्दी को बाधा, इन्द्रियों के विषय की चाह आदि की अनेक भयंकर से भयंकर आपत्तियां इस जीव को शरीर के संबंध से ही उठानी पड़ती है, इस लिये जिस समय इस शरीर को भी यह आत्मा भिन्न समझ लेता है उस समय

इन सब आपत्तियों से छूट जाने के कारण इस जीव को एक अलौकिक आनंद प्राप्त हो जाता है, और अपनी इस परम-सुख-दायिनी भेद भावना की दृढ़ताके लिये उस दशा में यह जीव कायक्लेशादि तप करके शरीर को छान २ कर कृश करता है और सफलता पाने पर आनंद मानता है, इसी कारण उसे तप करते हुए खेद नहीं होता ॥३४॥

इसी कथन की पुष्टि।

राग द्वेषादि कल्लोलै, रलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥

अन्वयार्थ—(रागद्वेषादिकल्लोलैः यन्मनोजलं अलोलं स आत्मनः तत्त्वंपश्यति, तत् तत्त्वं इतरः जनः न) राग द्वेष आदिक कल्लोलों करके जिसका मन रूपी जल चंचल नहीं हुआ है वही पुरुष आत्मा के स्वरूप को जान सकता है, इस आत्म-स्वरूप को रागीद्वेषी पुरुष नहीं पहिचान सकता।

भावार्थ—अनादि काल से यह जीव शरीरादि बाह्य पदार्थों में आत्म बुद्धि किये हुए है और ये बाह्य पदार्थ आत्म-स्वरूप न होने के कारण कर्मानुसार बाह्य निमित्त को लेकर मिलते बिछुड़ते रहते हैं, इस लिये जिस बाह्य निमित्त से अनुकूल विषयों की प्राप्ति होती है उसमें राग और जिसके निमित्त से इष्ट वस्तु का विच्छेद व प्रतिकूल वस्तु का संबंध होता है इससे यह जीव द्वेष करता रहता है और इस राग

द्वेष रूपी अग्नि से निरंतर दग्ध रह कर अपने वास्तविक आत्म स्वरूप को नहीं पहिचानता। इस लिये आत्मस्वरूपकी प्राप्ति के लिये राग द्वेष का नाश करना सबसे आवश्यक है जो पुरुष इनका नाश कर देता है वह परमात्म पद पा सकता है जो नहीं करता वह नहीं पा सकता।

वह आत्मा का स्वरूप क्या है?

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं, विक्षिप्तं भ्रान्ति रात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं, विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः॥३६॥

अन्वयार्थ—(अविक्षिप्तं मनः आत्मनः तत्त्वं, विक्षिप्तं भ्रान्तिः) अविक्षिप्त अर्थात् रागादिरहित तथा देह व आत्मा के अभेद ज्ञान से शून्य अपने शुद्ध स्वरूप में निश्चल जो मन है वही आत्मा का स्वरूप है इसके विरुद्ध जो विक्षिप्त अर्थात् रागादि परिणत व देह आत्मा को एक जानने वाला भ्रांत मन है वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। (ततः अविक्षिप्तं तत् धारयेत् विक्षिप्तं न आश्रयेत्) इस लिये अविक्षिप्त मन को धारण करना चाहिये और विक्षिप्त मन का आश्रय नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—यह है कि उपयोग रूप जो भाव मन है वह ज्ञानात्मक होने से आत्मा का ही स्वरूप है। जिस समय वह ज्ञान स्वरूप भाव-मन रागादि रहित होकर शरीरादि बाह्य पदार्थों को आत्मा से भिन्न अनुभव करने लगता है तथा

आत्म-ध्यान में तन्मय हो जाता है उस समय उस मन को आत्मा का निज स्वरूप समझना चाहिये। और रागादि युक्त भाव मन को ज्ञान स्वरूप होते हुए भी विकारी होने के कारण आत्मा का निज स्वरूप नहीं मानना चाहिये।' इस लिये श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहा है कि मनमेंसे रागादि विक्षेपोंको दूर करके उसको शुद्ध करना चाहिये ॥३६॥

मन में विक्षेप क्यों होता है?

अविद्याऽभ्याससंस्कारै रवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः, स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥

अन्वयार्थ—(अविद्याभ्याससंस्कारैः मनः अवशं क्षिप्यते) शरीरादिक को आत्मरूप जानने वाले अज्ञान के अभ्यास से उत्पन्न हुये मलिन संस्कारों के द्वारा मन, आत्मा के वश में न रह कर विक्षेप को प्राप्त हो जाता है (तदेव ज्ञान संस्कारैः स्वतः तत्त्वे अवतिष्ठते) और वही मन भेद-ज्ञान से उत्पन्न हुये उत्तम संस्कारों के द्वारा स्वयं ही आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है॥ ३७ ॥

विक्षेप व अविक्षेप से क्या फल होता है।

अपमानादयस्तस्य, विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य, न क्षेपो यस्य चेतसः ॥३८॥

अन्वयार्थ—(यस्य चेतसः विक्षेपः तस्य अपमानादयः) जिसके मनमें विक्षेप होता है उसी के चित्त में मान-अपमान आदि की कल्पना होती है। यस्य चेतसः क्षेपः न, तस्य अपमानादयः न) और जिसके मन में विक्षेप नहीं होता उसका अपमानादि की तरफ ध्यान भी नहीं जाता।

भावार्थ—जब तक हमारे मन में मान-अपमान से हर्ष-विषाद होता है तब तक समझना चाहिये कि राग—द्वेषादि कषायों ने हमारे मन को विक्षिप्त कर रक्खा है, और जब मान-अपमान आदि की कल्पना हृदय से निकल जाती है उस समय इन विक्षेपों से मनको रहित मानना चाहिये ॥३८॥

अपमानादिक के दूर करने का उपाय।

यदा मोहात्प्रजायेते, राग-द्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ३९

अन्वयार्थ—(यदा तपस्विनः मोहात् राग-द्वेषौ प्रजायेते, तदा एव स्वस्थं आत्मानं भावयेत्, क्षणात् शाम्यतः) जिस समय किसी तपस्वी मुनि के हृदय में मोह के उदय से राग-द्वेष उत्पन्न हो जावें उस समय उसको अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप की भावना करनी चाहिये, इस प्रकार वार २ आत्मस्व-रूप की भावना करने से ही राग-द्वेष क्षण भर में शांत हो जावेंगे।

भावार्थ—ये राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक

एक प्रकार के मानसिक रोग हैं जो कि अज्ञानके द्वारा शरीर, स्त्री, पुत्रादिकों को आत्मरूप मानने से तथा पंचेन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति-अप्राप्ति से उत्पन्न होते हैं, शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिंतवन करना ही इनको निर्मूल करने के लिये एक मात्र रामबाण औषधि है। इन रोगों का निदान (मूलकारण) आत्मस्वरूप का अज्ञान है। इसलिये इस अज्ञान का नाश किये विना इन रोगों की जड़ नहीं जा सकती ॥ ३९ ॥

राग—द्वेष का विषय व उनका विपक्ष दिखाते हैं:—

यत्र काये मुनेः प्रेम, ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये, योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

अन्वयार्थ—(यत्र काये मुनेः प्रेम, बुद्धया ततः देहिनं प्रच्याव्य तत् उत्तमे काये योजयेत्, प्रेम नश्यति) जिस शरीर में तथा इन्द्रियों के विषयों में मुनिका प्रेम है, अर्थात् आत्म-बुद्धि हो रही है, विवेक ज्ञान के द्वारा उन शरीरादिकों से आत्मा को पृथक् करके उस प्रेम को चिदानन्दमय उत्तम आत्मरूपी काय में लगाने से बाह्य विषयों का प्रेम नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—जब तक इस जीव को अपने ज्ञानानंदमय परम मनोहर उपवनमें क्रीड़ा करने का अवसर प्राप्त नहीं होता, तब तक यह अत्यन्त घृणित स्त्री आदि के शरीर व अन्य पंचेन्द्रियों

के विषयों में ही लुभाया रहता है तथा अपने मल—मूत्र व अस्थि पंजर के पिंड रूप शरीरको ही बार २ देख कर प्रसन्न होता रहता है। यदि यह जीव किसीप्रकार अपने दर्शन मोहादिक का उपशम करके अपने शांत सुधारस का एक बार भी स्वाद ले ले तो इसकी इन बाह्य विषयों में कदापि रुचि न रहे और बहुत काल तक इसे जगत—जाल में फँसना न पड़े॥४०॥

इस भ्रमात्मक प्रेम के नाश होने से क्या होता है?

आत्मविभ्रमजं दुःख, मात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नायतास्तत्र निर्वान्ति, कृत्वाऽपि परमं तपः॥४१॥

अन्वयार्थ—(आत्मविभ्रमजं दुःखं आत्मज्ञानात् प्रशाम्यति) शरीरादिक में आत्मा का भ्रम होने से जो दुःख होता है वह आत्मज्ञान होने से नष्ट हो जाता है। (तत्र अयताः परमं तपः अपि कृत्वा न निर्वान्ति) इसलिये जो पुरुष आत्म स्वरूप के ज्ञान प्राप्त करने में प्रयत्न नहीं करते वे दुर्धर तप को करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकते।

भावार्थ—मुक्ति प्राप्ति के लिये आत्म-ज्ञान की प्राप्ति पूर्वक किया हुआ तप ही कार्यकारी है, इसके विरुद्ध आत्मा व उसमें उत्पन्न हुए रागादिक विकारों के वास्तविक स्वरूप को बिना जाने जो पुरुष ऊटपटांग पंचाग्नि आदिक तप किया करते हैं वे उसी प्रकार नासमझ समझे जाया करते हैं जिस प्रकार कि बुखार की बीमारी में बवासीर की दवाखाने वाले

बेवकूफ माने जाया करते हैं ॥ ४१ ॥

शरीरादिक को आत्मा मानने वाला तप करके क्या फल चाहता है ?

शुभं शरीरं दिव्याँश्च, विषयानभिवाञ्छति ।
उत्पन्नात्ममति देहे, तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(देहे उत्पन्नात्ममतिः शुभं शरीरं च दिव्यान् विषयान् अभिवाञ्छति) शरीर में जिसको आत्म—बुद्धि हो रही है वह पुरुष तप करके देवों के सुंदर शरीर को व स्वर्गों के दिव्य विषयों को ही चाहता है, (तत्त्वज्ञानी ततः च्युतिम्) और जो तत्त्वज्ञानी है वह ऐसे शरीर व विषयों से भी छूटना चाहता है।

भावार्थ—बहिरात्मा स्वर्गादिक के मिलने को ही परम-पद की प्राप्ति समझता है इसलिये केवल स्वर्गादिक की लालसा से ही पंचाग्नि आदि तप के द्वारा कायक्लेश करता है और जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान जाता है उसको स्वर्गों के विषय—भोग भी अन्य विषयों की तरह दुःखदाई मालूम पड़ते हैं इसलिये वह सम्यग्दृष्टि पुरुष उन स्वर्गादिक के विषयों की इच्छा न करके परमानंदमय मोक्षपद की इच्छा रखता है ॥ ४२ ॥

किसको कर्म-बंध होता है और किसको नहीं होता ?

परत्राहम्मतिः स्वस्मा,च्च्युतो बध्नात्यसंशयम् ।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा, परस्मान्मुच्यते बुधः॥४३॥

अन्वयार्थ—(परत्र अहम्मतिः स्वस्मात् च्युतः असंशयं बध्नाति) जिसको शरीरादिक पर पदार्थों में आत्म-बुद्धि हो रही है वह अपने स्वरूप से च्युत रह कर निःसंदेह ज्ञाना-वरणादिक कर्मों का बन्ध करता है (स्वस्मिन् अहम्मतिः बुधः परस्मात् च्युत्वा मुच्यते) और जिसको आत्मा में ही आत्म बुद्धि उत्पन्न हो गई है वह ज्ञानी अंतरात्मा शरीरादि के संबंध से छूट कर मुक्त हो जाता है ॥४३॥

बहिरात्मा किसको आत्मा मानता है व अंतरात्मा किसको?

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिंगमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु, निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

अन्वयार्थ—(मूढः दृश्यमानं त्रिलिंगं इदं अवबुध्यते) मूढ़ बहिरात्मा इस त्रिलिंगात्मक शरीर को ही आत्मा मानता है (अवबुद्धः शब्दवर्जितं तु निष्पन्नं इदं इति अवबुध्यते) और ज्ञानी अंतरात्मा नामादि विकल्पों से रहित अनादि सिद्ध आत्मा को ही आत्मा मानता है ॥ ४४ ॥

यदि अंतरात्मा आत्माको ही आत्मा मानता है तो फिर वह अपने को बाह्य पदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता क्यों मानता है ?

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं, विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद्, भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति॥४५॥

अन्वयार्थ—(आत्मनः तत्त्वं जानन् अपि, विविक्तं भावयन् अपि) अविरत सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा, आत्मा के स्वरूप को जानते हुए भी तथा अन्य पदार्थों से भिन्न आत्मा की भावना करते हुए भी (पूर्व विभ्रम संस्कारात् भूयः अपि भ्रान्तिं गच्छति) पूर्व बहिरात्मावस्था के भ्रामक संस्कारों के कारण फिर भी भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा को यद्यपि विचार काल में बाह्य पदार्थों के कर्त्ता-भोक्ता पने का भ्रम नहीं होता तथापि अनादि काल से संतत अभ्यास में आये हुए मिथ्यात्व जन्य संस्कारों के असर से साधारण अविचारित कार्यों में उसको कदाचित् कर्त्ता-भोक्ता पने का व्यामोह भी हो जाता है इसी कारण उसके ज्ञानचेतना (शुद्धात्मा का अनुभव) के सिवाय कर्म-चेतना (कर्त्तापने का अनुभव) व कर्मफल-चेतना (भोक्तापनें का अनुभव) भी मानी गई है ॥४५॥

इन भ्रामक संस्कारों के दूर करने का क्या उपाय है?

अचेतनमिदं दृश्य, मदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि, मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥४६॥

अन्वयार्थ—(इदं दृश्यं अचेतनं, चेतनं अदृश्यं ततः क्व

रुष्यामि क्व तुष्यामि) अन्तरात्मा को निरंतर यह विचारते रहना चाहिये कि यह जितना भी दृष्टिगोचर जगत् है, यह सब अचेतन है और जो चेतन है वह दृष्टिगोचर नहीं है। इस लिये मैं किस पर तो रोष (क्रोध) करूं और किस पर संतोष करूं ? अर्थात् किसी से भी राग-द्वेष न करके (अतः अहं मध्यस्थः भवामि) मुझे मध्यस्थ रहना ही उचित है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि-अन्तरात्मा को पूर्वमें कहे हुए कर्त्ता-भोक्तापने आदि के अनेक मिथ्याभ्रामक संस्कारों को दूर करने के लिये निरन्तर यह विचार करते रहना चाहिये कि जिन बाह्य पदार्थों का मैं अपने को कर्त्ता व भोक्ता मानता हूं, अथवा जिनको देख कर क्रोधादि करता हूं, वे सब पदार्थ जड़रूप हैं मेरे स्वरूप से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे जड़ पदार्थों पर रोष करना व संतोष करना मुझे कदापि उचित नहीं है, इसलिये इन सब बाह्य पदार्थों पर माध्यस्थ्य भाव रखना ही योग्य है ॥ ४६ ॥

बहिरात्मा व अंतरात्मा किस २ वस्तु का त्याग व ग्रहण करते हैं ?

त्यागादाने बहिर्मूढः, करोत्यध्यात्ममात्मवित् ।
नान्तर्बहिरुपादानं, न त्यागो निष्ठितात्मनः ४७

अन्वयार्थ—(मूढः बहिः त्यागादाने करोति, आत्मवित् अध्यात्मं) मूढ बहिरात्मा द्वेषके उदयसे बाह्य अनिष्ट पदार्थों

का त्याग करता है और राग के उदय से बाह्य इष्ट पदार्थोंका ग्रहण करता है तथा आत्म स्वरूप को जानने वाला अंतरात्मा अन्तरंग राग-द्वेष आदिक का त्याग करता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र आदि निज भावों का ग्रहण करता है। (निष्ठतात्मनः अन्तः बहिः न त्यागः न उपादानं) और अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित जो कृतकृत्य सर्वज्ञ परमात्मा है वह न बाह्य आभ्यन्तर किसी पदार्थ का त्याग करता है और न किसी का ग्रहण करता है।

भावार्थ—परमात्मा बाह्य पदार्थों का त्याग—ग्रहण तो पहले अंतरात्म अवस्थामेंही छोड़ देता है और रागादिक अंतरंग कषायों का त्याग व केवल ज्ञानादिक निज गुणों के ग्रहण करनेसेही वह परमात्म-पद प्राप्त करता है इसलिये उसे अब कुछ त्यागना व ग्रहण करना बाकी नहीं रहता ॥ ४७ ॥

अंतरात्मा को अंतरंग रागादिक का त्याग व सम्यग्ज्ञानादिक का ग्रहण किस प्रकार करना चाहिये ?

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं,वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु, त्यजेद्वाक्काययोजितम्।४८।

अन्वयार्थ—(आत्मानं मनसा युञ्जीत, वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्) आत्मा को मानसज्ञान के साथ तो तन्मय करना चाहिये और वचन व काय की क्रियाओं से रोकना चाहिये।

(वाक्कायर्योजितं व्यवहारं तु मन त्यजेत्) और वचन व काय से किये हुए कार्य को भी मन से चिंतवन न करे।

भावार्थ—रागादिक के त्यागने व सम्यग्ज्ञानादिक के प्राप्त करने के लिये अन्तरात्मा को वचन व काय की क्रियायें छोड़ते जाना चाहिये, और मन के द्वारा निरन्तर आत्म-चिंतवन करते रहना चाहिये। तथा वचन व काय की कोई आवश्यक क्रिया यदि करनीभी पड़े तो उसमें मन नहीं लगानाचाहिये।

यहां कोई प्रश्न करता है कि स्त्री-पुत्रादिक के साथ
तो कायकी चेष्टा व वचनालाप करते समय सुख
होता है तब फिर वचन-काय के व्यापार
त्यागने से क्या लाभ है ?

उत्तरः—

जगद्देहात्मदृष्टीनां, विश्वास्यं रम्यमेव वा।
स्वात्मन्येवाऽऽत्मदृष्टीनांक्व विश्वासःक्ववा रतिः४९

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टीनां जगत् विश्वास्यं रम्यं एव वा) शरीर में आत्मदृष्टि रखने वाले बहिरात्मा जीवों को यह स्त्री-पुत्र, धन्य-धान्यादिक का समूहरूप संसार, विश्वास-पात्र व मनोहर मालूम देता है, (स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रति) किन्तु आत्मा में ही आत्मदृष्टि रखने वाले ज्ञानी पुरुषों को इस प्रपंचरूप संसार में न विश्वास होता है और न रति ही होती है।

भावार्थ—जब तक इस जीव को अपने वास्तविक स्वरूप

को ज्ञान न होकर देह आदिक पर पदार्थों में आत्मबुद्धि बनी रहती है तभी तक उसे बाह्य पदार्थ मनोहर मालूम देते हैं, अथवा उस को उन में विश्वास रहता है और जब उस पुरुष को स्वपर का वास्तविक ज्ञान हो जाता है तब उसे निजानंद को छोड़कर बाह्य पदार्थों में रमने की कदापि इच्छा नहीं होती. बाह्य विषय उसे एक नीरस व दुखद मालूम देने लगते हैं।

अंतरात्मा को मन-वचन-काय की प्रवृत्ति कैसी रखनी चाहिये?

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

अन्वयार्थ—(आत्मज्ञानात् परं कार्यं बुद्धौ चिरं न धारयेत) आत्मज्ञान के सिवाय अन्य कार्यों को बहुत काल तक बुद्धि में धारण नहीं करना चाहिये। (अर्थवशात् किंचित् वाक्काया-भ्यां अतत्परः कुर्यात्) प्रयोजन वश यदि बाह्य कार्य कुछ करने हों तो उन्हें केवल वचन व काय से करने चाहिये, उनमें मन से आसक्त नहीं होना चाहिये।

भावार्थ—मोक्ष के इच्छुक ज्ञानी पुरुषों को अपना मुख्य लक्ष्य तो आत्मोद्धार ही रखना चाहिये, मानसिक उपयोग को बाह्य कार्यों में न लगाकर निरंतर आत्म हित के कार्यों में ही लगाना चाहिये और अपने व पर के उपकार वश यदि कुछ

बाह्य कार्य करने भी पड़ें तो उनमें विशेष उपयोग न लगा-कर आवश्यक समझ, वचन व काय से कर देना चाहिये ॥५०॥

अंतरात्मा बाह्य विषयों में आसक्त न होकर आत्म स्वरूप के विषय में क्या विचारता है ?

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे, नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्तःपश्यामि सानन्दं, तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ५१

अन्वयार्थ—(यत् इन्द्रियैः पश्यामि तत् मे नास्ति) जिस शरीरादिक को मैं इन्द्रियों के द्वारा देखता हूं वह मेरा स्वरूप नहीं है। (नियतेन्द्रियः यत् उत्तमं ज्योतिः सानंदं अंतः पश्यामि तत् अस्तु) इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोक कर स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जिस परमानन्दमय अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप उत्तम ज्योति को मैं अंतरंग में देखता हूं, वही वास्तव में मेरा स्वरूप है।

भावार्थ—जब बाह्य विषयोंसे उपेक्षा कर अंतरात्मा आत्म-स्वरूप के चिंतवन में तन्मय हो जाता है। उस समय उसको परमानन्दमयी आत्मज्योति साक्षात् सरीखी प्रति भासित होने लगती है। और वह अपने उसी चिदानंदानुभव में मग्न रहने लगता है। बाह्य विषयों की निकटता होने पर भी उनकी तरफ उसका ध्यान नहीं जाता ॥५१॥

यदि परमानन्दमयी ज्योति आत्मा का निज स्वरूप है तो उसका अनुभव करते समय कष्ट क्यों होता है ?

सुखमारब्धयोगस्य, बहिर्दुःखमथात्मनि ।
बहिरेवासुखं सौख्य, मध्यात्मंभावितात्मनः ॥५२॥

अन्वयार्थ—(आरब्धयोगस्य बहिः सुखं अथ आत्मनि दुःखं) जो पुरुष आत्म स्वरूप की भावना करना प्रथम ही प्रारम्भ करता है। उसे प्राचीन संस्कारों के कारण बाह्य विषयों में सुख और आत्म विचार में दुख मालूम होता है। (भावितात्मनः बहिः एव असुखं अध्यात्मं सौख्यं) और जिसको निरंतर भावना करते रहने से आत्म स्वरूप का प्रतिभास हो जाता है। उसे बाह्य विषयों में दुःख और आत्म चितवन में सुख होने लगता है।

भावार्थ—आत्म चितवन करना प्रारम्भ कर देने पर भी जब तक भावना करने वाले को आत्म स्वरूप की पहिचान नहीं होती, तब तक उसे आत्मिक आनन्द न आने से बाह्य विषय मनोहर जान पड़ते हैं। तथा आत्म विचार करना एक प्रकार की झंझट दिखाई देती है। और जब उसे अभूतपूर्व परमानन्दमय आत्म स्वरूप का अनुभव होने लगता है। तब वह उसमें ऐसा मग्न होता है कि उसे बाह्य विषय, विष सरीखे मालूम देने लगते हैं। जैसे कोई पुरुष जन्म से ही अपने पास के खारे कुएं का पानी पीता रहा हो और उसको

कुछ दूर से निर्मल शीतल मिष्ट जल के कुवे का पानी लाकर पीने को कहा जाय तो जाते समय उसे खेद होने के कारण अपना खारी कुवां ही अच्छा मालूम देगा। क्यों कि पास के खारी कुवें पर जाते समय मार्ग को धूप सहनी नहीं पड़ेगी। किन्तु जब वह दूर वाले कुवें के निर्मल-शीतल-स्वादिष्ट जल को पीवेगा, तब उसे अपने पास का खारी कुवां बहुत बुरा मालूम देने लगेगा और मार्ग की थकावट को वह भूल जायगा ॥५३॥

आत्मस्वरूप की भावना किस प्रकार करनी चाहिये ?

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयंरूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥५३॥

अन्वयार्थ—(तद्ब्रूयात्, तत् परान् पृच्छेत्, तत् इच्छेत् तत्परो भवेत्) आत्मस्वरूप की ही बात दूसरोंसे कहनी चाहिये, आत्मस्वरूपको ही दूसरों से पूछना चाहिये, उसी आत्मस्वरूप की प्राप्तिकी निरंतर इच्छा रखनी चाहिये, और आत्म-स्वरूपके चिंतवन में ही प्रतिसमय तन्मय रहना चाहिये। (येन अविद्यामयं रूपं त्यक्त्वाविद्यामयं व्रजेत्) जिससेकि अज्ञानमय अवस्था छूट कर ज्ञानमय-आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होवे।

भावार्थ—जैसे किसी धनिक वृद्धपुरुषका अत्यन्त प्रेमपात्र एकमात्र विवाहित पुत्र बिनाकहे परदेश चलाजावे तो वह वृद्ध-

पुरुष जिससे बात करने का अवसर मिलताहै तो अपने पुत्र की ही बात करताहै, किसीसे कुछ पूछता है तो अपनेपुत्रके आने की ही बात पूछता है। यदि किसी वस्तु की इच्छा करता है तो एक मात्र अपने प्रिय पुत्रके आने की ही इच्छा करताहै। यदि किसी का चिंतवन भी करता है तो उसी अपने प्रेम पात्र पुत्र का करता है। सारांश यह है कि जैसे उस वृद्धपुरुष के चित्त से उसका पुत्र किसी क्षण भी पृथक् नहीं होता, इसी प्रकार आत्म—स्वरूप की प्राप्ति के लिये निरन्तर चेष्टा करनी चाहिये।

अज्ञानी और ज्ञानी आत्मा किसको मानते हैं?

शरीरे वाचि चात्मानं,संधत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तःपुनस्तत्त्वं,पृथगेषां विबुध्यते॥५४॥

अन्वयार्थ—(वाक्शरीरयोःभ्रान्तःशरीरे वाचि च आत्मानं संधत्ते) वचन और शरीर के वास्तविक स्वरूप को न जानने-वाला भ्रान्त बहिरात्मा शरीर और वचन को ही आत्मा जानताहै। (अभ्रान्तःपुनःएषां तत्त्वं पृथक् विबुध्यते) और ज्ञानी पुरुष शरीर,वचन व आत्माके स्वरूपको पृथक् २ जानता है।

शरीरादिक को आत्मा मानने वाला बहिरात्मा जिन बाह्य विषयों में आसक्त हो रहा है,वे इसके हितकारक नहीं हैं।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु,यत् क्षेमंकरमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्॥५५॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियार्थेषु तत् न अस्ति यत् आत्मनः क्षेमंकरं) पंच इन्द्रियों के विषयों में ऐसी कोई भी विशेषता नहीं है जिससे कि आत्मा का कुछ भला होसके। (तथापि बालः अज्ञानभावनात् तत्र एव रमते) खेद है! कि यह संसारी जीव तो भी अज्ञानवश उन विषयों में ही रमता है।

भावार्थ—सब तरह से हानिकारक, अनित्य, ज्ञानीपुरुषोंके द्वारा निषिद्ध, इन्द्रियोंके विषयों में भी जो इस जीवको आनंद आने लगता है वह सब अज्ञानकी ही महिमा है।

अनादिकालीन मिथ्यात्ववश जीव क्या करते हैं?

चिरंसुषुप्तास्तमसि, मूढात्मानःकुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु, ममाहमितिजाग्रति ।५६।

अन्वयार्थ—(मूढात्मानः तमसि कुयोनिषु चिरं सुषुप्ताः) ये मूढ संसारी जीव मिथ्यात्वके उदयवश अनादि कालसे तो निगोदादिक कुयोनियोंमें निवास कररहेहैं, अर्थात् अचेत पड़े सोरहेहैं। (अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहं इति जाग्रति) यदि कदाचित् कर्मोदय से ये जीव मन सहित संज्ञीभी होजातेहैं तो मानसिक संकल्प-विकल्पों के द्वारा प्रत्यक्षभिन्न स्त्रीपुत्रादिक संबंधियोंको भी अपने मानकर अनेक प्रकारके प्रपंच में पड़े रहते हैं।

भावार्थ—निगोदादिक पर्यायों में तो ज्ञानकी अत्यन्त न्यूनतासे यह जीव अनेकदुःख भोगताहीहै किन्तु पहली पर्यायों

से विशेषज्ञानवान मनसहित पंचेन्द्रिय होने परभी रागद्वेषमोह-वश दूसरोंको अपने मान, दुःखी ही रहता है।

बहिरात्मावस्था को त्याग कर अपने व पर के शरीर को इस प्रकार मानना चाहिये।

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः॥५७॥

अन्वयार्थ—(आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः आत्मनः देहं निरंतरं अनात्मचेतसा पश्येत्) आत्म स्वरूप में स्थित होकर अपने शरीर को निरंतर अपने से भिन्न समझना चाहिये। (अन्येषां अपरात्मधिया) और स्त्री—पुत्रादिक दूसरे जीवोंके शरीर को उनको आत्मा से भिन्न मानना चाहिये।

भावार्थ—देह के साथ आत्मा की अभेद-बुद्धि अनादिकाल से हो रही है। निरंतर उत्तम २ उपदेशों के मिलने पर भी, इस व्यामोह का मिटना कष्ट साध्य समझ कर, ग्रंथकार बार २ अनेक प्रकार से इसी बात को दिखाते हैं।

यहां कोई प्रश्न करता है कि जैसे अपने वास्तविक स्वरूप को स्वयं जानना चाहिये, वैसे ही दूसरों को भी बताना चाहिये, या नहीं? उत्तर—

अज्ञापितं न जानन्ति, यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां, वृथा मे ज्ञापनश्रमः॥५८

अन्वयार्थ—(मूढात्मानः यथा मां अज्ञापितं न जानन्ति तथा ज्ञापितं) तत्वज्ञानी अंतरात्मा कहता है—अपने मन को समझाता है कि जैसे ये मूढ़ अज्ञानी जीव मेरे स्वरूप को बिना बताये नहीं जानते, वैसे ही बताने से भी नहीं जान सकेंगे। (ततः तेषां ज्ञपनश्रमः मे वृथा) इसलिये उनके बोध करानेके लिये जो मेरा खेद करना है, वह वृथा है।

भावार्थ—बहुत से ज्ञानी पुरुष दूसरों को उपदेश करने में इतने व्यग्र हो जाते हैं कि उपदेश न मानने पर अधीर हो उठते हैं। और वस्तुस्वरूप को भूलकर सुनने वालों से कषाय करने लगते हैं। जिसके कारण वे दूसरों के हित करने के भ्रम में पड़ कर अपना अहित कर लेते हैं। ऐसे पुरुषों के प्रतिबोध के लिये ही यह उपर्युक्त श्लोक ग्रंथकार ने लिखा है। जिसके लिखने का यह आशय है कि परोपदेश की प्रवृत्ति का होना ज्ञानी जीवों को शुभ कषाय रूप समझना चाहिये और अपनी शुद्ध परिणति को प्राप्त करने की योग्यता होते समय इसको भी बाधक ही समझना चाहिये। इस शुभ प्रवृत्ति के व्यामोह में पड़ कर आत्महित को कदापि भूलना नहीं चाहिये।

इसी बातको दूसरी तरहसे कहते हैं।

यद्बोधयितुमिच्छामि, तन्नाहं यदहं पुनः
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य, तत्किमन्यस्य बोधये॥५९॥

अन्वयार्थ—(यद्बोधयितुं इच्छामि तत् न अहं, पुनः न अहं

तत् अपि अन्यस्य ग्राह्यं तत् अन्यस्य किं बोधये) जिस देहादिक के स्वरूपको मैं संसारी जीवोंको सुनाना चाहताहूँ अथवा वे सुनना चाहते हैं वे देहादिक तो मेरे स्वरूप नहीं हैं। और जो मेरा वास्तविक परमानंदमय स्वरूप है उसको ये मूढ़जीव जान नहीं सकते, इसलिये अब मैं इनको क्या समझाऊं।

भावार्थ—ज्ञानी अंतरात्मा परोपदेश करने की अनुचित लालसा व व्यग्रतासे छूटनेके लिये फिर अपनी आत्माको समझाता है कि हे आत्मन्, यदि तू इन संसारी जीवोंको उपदेशभी देगा तो शरीरादिक जड़पदार्थों के विषयमें अथवा संसार दशाके विषयमें देसकता है।क्योंकि आत्माका शुद्धस्वरूप तो एक प्रकार से वचनद्वारा कहाभी नहीं जासकता और इन्द्रियोंसे सुनकर ग्रहण भी नहीं किया जासकता, और संसारके दुःखों का व शरीरादिक का अनुभव इनजीवों को स्वयंही होरहा है फिर तू इनको उपदेश देनेके झंझटमें पड़कर व उपदेश न मानने से खिन्न होकर व्यर्थ ही आकुलित क्यों होता है।

बहिरात्मा व अंतरात्मा किसमें संतुष्ट होते हैं?

बहिस्तुष्यति मूढात्मा, पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा, बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

अन्वयार्थ—(मूढात्मा अन्तरे पिहित ज्योतिः बहिः तुष्यति) मोह करके जिसकी अंतरंग ज्ञान ज्योति आच्छादित हो

रही है वह मूढ़ वहिरात्मा शरीरादिक वाह्य विषयों में ही संतुष्ट रहता है। (वहिर्व्यावृत्तकौतुकः प्रबुद्धात्मा अन्तः तुष्यति) और जिसका वाह्य विषयों में अनुराग नहीं रहा, वह ज्ञानी अंतरात्मा अपने अंतरंग आत्म-स्वरूप में ही संतुष्ट होता है।

तत्त्वज्ञानी वहिरात्माकी दशा पर विचार करता है।

न जानन्ति शरीराणि, सुखदुःखान्य बुद्धयः।
निग्रहाऽनुग्रहधियं,तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ—(शरीराणि सुखदुःखानि न जानन्ति) यद्यपि औदारिकादिक शरीर जड़रूप होने से सुख-दुःख को नहीं जानते (तथापि अबुद्धयः अत्रैव निग्रहानुग्रहधियं कुर्वते) तो भी मूढ़ वहिरात्मा इन शरीरों से राग-द्वेष करता है और द्वेष-वश भूखामरके शरीर को दुःख देना चाहता है तथा राग वश अनेक प्रकार के भूषण-वस्त्र पहिन कर शरीर को सुखी करना चाहता है।

भावार्थ—अंतरात्मा विचारता है कि देखो,ये संसारी प्राणी कितने मूढ़ हैं; कि जो शरीर जड़रूप है उसको भी राग-द्वेष-वश सुखी-दुःखी करने की चेष्टा करते हैं।

संसार व मोक्ष कब होता है ?

स्वबुद्ध्या यावद्गृण्हीयात्कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां,भेदाभ्यासे तुनिर्वृतिः ॥६२॥

अन्वयार्थ—(कायवाक् चेतसां त्रयं यावत् स्वबुद्धया गृह्णीयात् तावत्संसारः) जब तक मन-वचन-काय का आत्म-बुद्धि से ग्रहण किया जायगा, तब तक ही संसार समझना चाहिये । (एतेषां भेदाभ्यासे तुनिर्वृतिः) और इन तीनों मन-वचन-कायों का आत्मा से पूर्ण रूप से भेद ज्ञान होने पर जीव की मुक्ति समझनी चाहिये ।

अर्थात् जब तक यह जीव मन-वचन काय व इनके निमित्त से होने वाले रागादिक विकारों व अन्य बाह्य कार्यों को अपने समझता रहता है तब तक वह जीव संसारी है और जब "मन, वचन, काय" इन तीनों को तथा इनके निमित्त से उत्पन्न हुए राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोंको व स्त्री-पुत्रादिक बाह्य पदार्थों को यह जीव पूर्णरूप से भिन्न समझ लेता है तब मुक्ति का पात्र बन जाता है ।

शरीर और आत्माका भेदज्ञान होने से यह जीव शरीर की दृढ़ता आदिसे आत्मा की दृढ़ता आदिक नहीं मानता ।

घनेवस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न घनंमन्यते तथा ।
घनेस्वदेहेऽप्यात्मानं, न घनं मन्यते बुधः॥६३॥
जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न जीर्णंमन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं,नजीर्णं मन्यते बुधः॥६४॥
रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं, न रक्तं मन्यते बुधः॥६५॥

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टेस्वदेहेऽप्यात्मानं, न नष्टं मन्यते बुधः।६६।

अन्वयार्थ—बुद्धिमान पुरुष जैसे दृढ़ या मजबूत कपड़े को पहिनकर आत्मा को बलिष्ठ नहीं मानता, वैसे ही शरीर के पुष्ट होने से आत्माको पुष्ट नहीं मानता ॥ ६३ ॥ वस्त्रके पुराने होजानेपर जैसे आत्माको जीर्ण नहीं मानता वैसेही शरीरके कृश या वृद्धहोजाने पर आत्माको कृश या वृद्ध नहीं मानता॥६४॥ रंगे हुए वस्त्र पहिनकर जैसे आत्मा को रंगी हुई नहीं मानता, उसी तरह केशर चन्दनादि से शरीरको रंगकर भी आत्माको रंगी हुई नहीं मानता ॥ ६५ ॥ इसीप्रकार जैसे वस्त्रके नष्ट होजाने पर भी आत्माको नष्ट नहीं मानता, वैसेही शरीरके नष्ट होने पर भी आत्माको नष्ट नहीं मानता ॥ ६६ ॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष इस शरीरको नष्ट वस्त्रके समान समझतेहैं; जैसे वस्त्रों के ग्रहण व त्यागमें अन्यजीवों को आत्मा के जीवन-मरणका भ्रम नहीं होता, वैसे ही ज्ञानीपुरुषों को शरीर के ग्रहण व त्यागमें भी आत्माके जीवन—मरण का भ्रम नहीं होता ॥ ६६ ॥

परमवीतरागता रूप शांतदशाको कौन प्राप्त कर सकता है।

यस्य सस्पन्दमाभाति, निस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं, स शमं याति नेतरः॥६७॥

अन्वयार्थ—(यस्य अप्रज्ञं अक्रियाभोगं सस्पंदं जगत् निस्पंदेन समं आभाति) जिस ज्ञानी पुरुषको ज्ञानरहित, आचरण आदि क्रियारहित, तथा सुख आदि के अनुभवरूप भोगरहित, यह शरीरादि रूप जीवके निमित्त से अनेक चेष्टा करने वाला जगत्, निस्पंद-निश्चेष्ट-लकड़ी पत्थर सरीखा मालूम पड़ने लगता है वही पुरुष परम वीतराग शान्त अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। इस परमवीतराग अवस्था को अनेक प्रकार के प्रपंच में फंसे हुए मूढ़ बहिरात्मा जीव नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ६७ ॥

बहिरात्मा अपने स्वरूप को क्यों नहीं पहिचानता ?

शरीरकंचुकेनात्मा, संवृतो ज्ञानविग्रहः।
नात्मानंबुध्यते तस्माद्; भ्रमत्यतिचिरंभवे ।६८।

अन्वयार्थ—(शरीरकंचुकेन संवृतः ज्ञानविग्रहः आत्मा आत्मानं न बुध्यते,तस्मात् भवे अतिचिरं भ्रमति) ज्ञान ही है शरीर अथवा स्वरूप जिसका ऐसा यह आत्मा कार्माणशरीर रूपी कांचली से ढका हुआ है। इस लिये अपने वास्तविक स्वरूप को न जानकर अनादि काल से संसार चक्र में भ्रमण करता फिर रहा है। यहां पर कांचली को केवल दृष्टान्त मात्र समझना चाहिये। जिस प्रकार सर्प के केवल ऊपरी भाग में

वृक्ष की छाल की तरह कांचली रहती है, शरीर के अंदर नहीं रहती; उस प्रकार आत्मा के साथ,कार्माणशरीर (सूक्ष्म शरीर) का सम्बन्ध नहीं समझना चाहिये। किन्तु संसारी आत्मा और कर्म को इस प्रकार मिला हुआ मानना चाहिये जिस प्रकार दूध में मीठा वा पानी में नमक मिल जाता है। अथवा जैसे दाद की दवा बनाते समय पारे और गंधक को पीसकर एकमेक करने पर दोनों की अवस्था बिल्कुल कज्जल सरीखी हो जाती है। पारे की सफेदी व चमक और गंधक का पीलापन न जाने कहां चला जाता है। इसी प्रकार आत्मा के साथ कर्मों का सर्वांश सम्बन्ध रहने पर दोनों के गुण विकृत रहते हैं। आत्मा का अनंत दुख—सुख रूप परिणत रहता है और भी सम्यक्त्वादि गुणों की यही हालत रहती है ॥६८॥

वहिरात्मा शरीर को आत्मा क्यों समझता है?

प्रविशद्गलतां व्यूहे,देहे ऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते, तमात्मानमबुद्धयः॥६९॥

अन्वयार्थ—(अबुद्धयः प्रविशद्गलतां अणूनां व्यूहे देहे समाकृतौ स्थितिभ्रान्त्यातं आत्मनं प्रपद्यन्ते) मूढ़ बुद्धि वाले बहिरात्मा जीव निरंतर प्रवेश करने वाले व जीर्ण होने वाले पुद्गल परमाणुओं के समूह रूप शरीरको आत्माके समान आकार वाला देख कर तथा शरीर व आत्मा की एक क्षेत्र में स्थिति होने के कारण उत्पन्न हुए भ्रम से शरीर को ही आत्मा जानते हैं।

भावार्थ—यदि इस शरीर का असली स्वरूप विचार कर देखा जाय तो यह घृणित पुद्गल परमाणुओं के पुंजके सिवाय और कुछ नहीं मालूम देता और जिन परमाणुओं से यह बना है वे भी इसमें शुरूसे अंत तक हमेशा नहीं रहते, किन्तु प्रतिक्षण शरीर में नवीन-नवीनें परमाणु आकर मिलते रहते हैं, और पुराने परमाणु निकलते रहते हैं। शरीर की यह दशा होते हुए भी आत्मा के समान आकार वाला होने से तथा बहुत काल से शरीर व आत्मा की एक क्षेत्र में स्थिति रहने से मूढ़ बहिरात्मा इस शरीर को ही आत्मा मानता है।६६।

शरीर के धर्मोंसे आत्माको पृथक् माननेका उपदेश।

गौरःस्थूलःकृशोवाऽहमित्यङ्गेन विशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं, केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(अहं गौरःस्थूलःवाकृशःइति अंगेन विशेषयन् केवलज्ञप्तिविग्रहंआत्मानं नित्यं धारयेत्) मैं गोरा हूं, स्थूल हूँ अथवा कृश हूं, इस प्रकार शरीर के धर्मोंसे पृथक् समझकर आत्माको नित्य ही केवलज्ञान स्वरूप अथवा रागादिक से भिन्न एकमात्र ज्ञानस्वरूप वा केवलज्ञान रूपी शरीर विशिष्ट मानना चाहिये ॥ ७० ॥

मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता कब आती है?

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य, चित्ते यस्याऽचलाधृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्ति, र्यस्य नास्त्यचलाधृतिः७१

अन्वयार्थ—(यस्य चित्ते अचला धृतिः, तस्य एकान्तिको मुक्तिः) जिस पुरुष के चित्त में आत्मस्वरूप की निश्चल स्थिति है। उसको नियम से मुक्ति प्राप्त होती है। (यस्य अचला धृतिः नास्ति, तस्य एकान्तिको मुक्ति र्नास्ति) और जिस पुरुष को आत्म स्वरूप में निश्चल स्थिति नहीं है उसको मुक्ति कदापि नहीं हो सकती।

भावार्थ—यह जीव आत्म स्वरूप में निश्चल होकर तन्मय होने से ही मुक्ति का पात्र होता है। विना आत्मस्थिरता के मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को क्या करना चाहिये ?

जनेभ्यो वाक्ततः स्पन्दो,मनसश्चित्त विभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं, जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ७२

अन्वयार्थ—(जनेभ्यः वाक्, ततः मनसः स्पन्दः, तस्मात् चित्त विभ्रमाः भवन्ति, ततः योगी जनैः संसर्गं त्यजेत) जगत के जीवों से मिलने पर वचन की प्रवृत्ति होती है, वचन की प्रवृत्ति होने से मनमें व्यग्रता होती है और व्यग्रता होने से मन विक्षिप्त सरीखा होजाता है, इसलिए आत्महित या मोक्षपद के इच्छुक योगी पुरुषों को व्यवहारी जनों का संसर्ग सर्वथा छोड़ना उचित है।

नगर व वनकी कल्पना किसके हृदय में होती है ?

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा, निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मनां निवासस्तु, विविक्तात्मैव निश्चलः॥७३

अन्वयार्थ—(ग्रामः अरण्यं इति द्वेधा निवासः अनात्मदर्शिनाम्) यह ग्राम है अथवा यह वन है, इस प्रकार दो तरह के स्थान की कल्पना अनात्मदर्शी बहिरात्मा जीवों को ही होती है। (दृष्टात्मनां निवासःतु विविक्तः निश्चलःआत्मा एव) और आत्मस्वरूप को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों का निवास-स्थान, वास्तव में उनका रागादि रहित निश्चल आत्मा ही होता है। क्योंकि आत्मज्ञानी पुरुष निरंतर अपने आत्म गुणों के अनुभव में ही रमे रहते हैं इस लिये उनका ध्यान बाह्य ग्राम वन आदि स्थानों की तरफ नहीं जाता, परमानन्द मय निज आत्मा का ही वे एक प्रकार का मनोहर उपवन समझते हैं। ७३

शरीर को आत्मा व आत्मा को आत्मा मानने से क्या होता है ?

देहान्तरगतेर्बीजं,देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ।७४।

अन्वयार्थ—(अस्मिन् देहे आत्मभावना देहान्तरगतेः बीजं) इस शरीर में आत्मा की भावना करना परलोक गमन का कारण है। (आत्मनि एव आत्मभावना विदेह निष्पत्तेः बीजं) और इस आत्मा में ही आत्मा की भावना करना मोक्ष प्राप्ति का कारण है।

भावार्थ—जो पुरुष शरीर को ही निश्चय से आत्मा समझता है वह निरन्तर नवीन २ शरीर धारण करता रहता है और जो पुरुष आत्मा को ही निरन्तर आत्मरूप से चितवन करता है; वह मुक्तरूप शुद्ध आत्मा हो जाता है।

आत्मा का गुरु कौन है ?

नयत्यात्मानमात्मैव, जन्मनिर्वाणमेवच।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्तिपरमार्थतः॥७५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा एव आत्मानं जन्म निर्वाणं च नयति) आत्मा ही आत्मा को जन्मरूपी संसार में रुलाता है और स्वयं ही संसार से पार करके मोक्ष पद प्राप्त कराता है। (तस्मात् आत्मनः गुरुः आत्मा, परमार्थतः अन्यः न अस्ति) इस लिये आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य कोई वास्तव में गुरु नहीं है।

भावार्थ—आत्म-हित के उपदेशक आचार्यादिक गुरुओं का सच्चा उपदेश सुनकर भी जब तक यह जीव विषय-कषायादिक का त्याग नहीं करता है तब तक बराबर संसार-सागर में रुलता रहता है और कभी—कभी आचार्योंके उपदेश सुने विना भी विषय-कषायादिक त्याग करके मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है। इसलिये वास्तवमें आत्मा को स्वयं अपना गुरु अपने को ही मानना चाहिये।

बहिरात्मा को मरने से भय क्यों लगता है ?

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च, बिभेति मरणाद्भृशम् ।७६।

अन्वयार्थ—(देहादौ दृढात्मबुद्धिः आत्मनः नाशं मित्रादिभिः वियोगं च उत्पश्यन् मरणात् भृशं बिभेति) शरीरादिक में जिसकी दृढ़ आत्मबुद्धि हो रही है वह पुरुष शरीर छूटते समय आत्मा का नाश मानकर तथा मित्रादिकों से वियोग हुआ जानकर, मरणसे अत्यन्त भय खाता है।

भावार्थ—यद्यपि इस वर्त्तमान शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर प्राप्त करना पुराने कपड़े को उतारकर नवीन कपड़े बदलने के समान है, इसमें भय करने की या दुःख मानने की कोई भी बात नहीं है। तथापि जो अज्ञानी जीव इस शरीर को आत्मा समझे हुए हैं और मित्र वर्ग में अत्यंत मोहित हो रहे हैं, उनको मरने से अत्यंत भय लगता है। और इस भय लगने का मूल कारण वास्तव में उनका हो उपर्युक्त अज्ञान है ॥७६॥

ज्ञानी पुरुष को मरने का भय क्यों नहीं होता ?

आत्मन्येवात्मधीरन्यां, शरीरगति मात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा, वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम् ।७७।

अन्वयार्थ—(आत्मनि एवं आत्मधीः शरीरगतिं आत्मनः अन्यां वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तर ग्रहं "इव" निर्भयं मन्यते) जिसको आत्मा में ही आत्मबुद्धि हो गई है वह ज्ञानी पुरुष शरीर के विनाश को आत्मा से भिन्न मानता है और मरने-जीने को पुराने वस्त्र को उतार कर नवीन वस्त्र बदलने की तरह समझ कर निर्भय रहता है ॥७७॥

एक साथ व्यावहारिक व पारमार्थिक कार्य क्यों नहीं सिद्ध होते?

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्, सुषुप्तश्चात्मगोचरे ७८

अन्वयार्थ—(यः व्यवहारे सुषुप्तः सः आत्मगोचरे जागर्ति) जो व्यवहार के कार्यों में सोता है अर्थात् उनसे उदासीन रहता है वह आत्म अनुभवके विषयोंमें जागता है । अर्थात् उसमें तन्मय रहता है।(अस्मिन् व्यवहारे यः जागर्ति सः आत्मगोचरे सुषुप्तः) और जो पुरुष व्यावहारिक कार्यों में तन्मय रहता है वह आत्मानुभव से कोसों दूर रहता है ।

भावार्थ—जीवों के चित्त की वृत्ति एक समय में विरुद्ध दो कार्यों में नहीं लग सकती, जिस समय में मन विषयों में फँसा रहेगा उस समय आत्म-हित के कार्य उसे अच्छे नहीं लगेंगे और जिस समय आत्म हित की तरफ मनका झुकाव होगा, उस समय उसे विषय-कषाय विष सरीखे लगने लगेंगे ।

जीवको मुक्ति कब प्राप्त होती है ?

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा, दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥

अन्वयार्थ—(आत्मानं अन्तरे दृष्ट्वा, देहादिकं बहिः दृष्ट्वा-तयोः अन्तरविज्ञानात् अभ्यासात् अच्युतः भवेत्) आत्मा को अंतरंग में देखकर और शरीरादिक को बाह्य जानकर, शरीर और आत्मा की भिन्नता का दृढ़ ज्ञानाभ्यास करते २ जीव मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—जब इस जीव को आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट मालूम देने लगता है तब यह शारीरिक क्रियाओं से उपेक्षा करने लगता है और सम्यक् ज्ञानादिक आत्मिक गुणों की प्राप्ति व वृद्धि के लिये प्रयत्न करने लगता है। इसी तरह करते २ जब सम्पूर्ण देहादि संबंधी क्रियाओं को छोड़कर अपने सर्व आत्मिक गुणों का पूर्ण विकाश कर लेता है तब यह जीव मुक्त हो जाता है।

ज्ञानी पुरुष जगत् को कैसा जानते हैं ?

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य, विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात, काष्ठपाषाणरूपवत् ८०

अन्वयार्थ— (दृष्टात्मतत्त्वस्य जगत् पूर्वं उन्मत्तवत् विभाति, स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्) जिसने

अपने आत्म स्वरूप को जान लिया है उस ज्ञानी पुरुष को पहले यह जगत् उन्मत्त सरीखा मालूम देने लगता है, और जब आत्मानुभवका और भी अधिक दृढ़ अभ्यास हो जाता है तब उस महापुरुष को यह जगत् काष्ठ-पाषाण सरीखा बिल्कुल निश्चेष्ट दिखाई देने लगता है।

भावार्थ—जब इस जीव को देह व आत्मा का भेदज्ञान होने से अपने परमानंदमय चैतन्य चमत्कार स्वरूप आत्मदेव का दर्शन होने लगता है उस समय वह ज्ञानी पुरुष इस अपूर्व आनन्द से जगत के जीवों को वंचित देखकर उनकी दशा पर करुणा करता हुआ विचार करता है कि देखो, ये संसारी प्राणी कितने मूर्ख हैं ! कि इस अपूर्व आनन्द को प्राप्त करने की योग्यता रखते हुए भी इस सुधारस के स्वाद से वंचित रहते हैं और अत्यंत घृणित व नीरस विषय-भोगों को भोगकर अस्थि (हाड़) चाबने वाले श्वान की तरह आनन्द मानते हैं। पीछे वही ज्ञानी पुरुष आत्म स्वरूप के अनुभव में अत्यन्त तन्मय हो जाता है तब उसका ध्यान जगत के जीवों की तरफ बिल्कुल भी नहीं रहता, इस लिये वह जगत को काष्ठ- पत्थर आदि की तरह निश्चेष्ट—क्रियाशून्य ही समझता है। अर्थात् आत्म स्वरूपमें तन्मय हो जाने पर जगत विषयक करुणा भाव भी उसके हृदय से निकल जाता है। उस समय वह ध्यानी महात्मा राग—द्वेष रहित वीतराग दशा को प्राप्त हो जाता है।

शरीर व आत्मा की भेद-भावना के बिना मुक्ति नहीं होती।

शृण्वन्नप्यन्यतःकामं,वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं,यावत्तावन्न मोक्षभाक् ८१

अन्वयार्थ—(कलेवराद् भिन्नं आत्मानं, अन्यतः शृण्वन् अपि,वदन् अपि,यावत् भिन्नं न भावयेत्,तावत् मोक्षभाक् न) "शरीर से आत्मा भिन्न है,, इस बातको उपाध्याय आदिक गुरुओं से सुनकर भी तथा इसी बातको दूसरों से बार-बार कहते रहने पर भी जब तक भेद ज्ञानकी दृढ़-भावना नहीं की जाती तब तक मुक्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ—आत्मा और शरीर के भेद की कथा को तोते की तरह कहने-सुनने मात्र से विशेष फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु सुकौशलमुनि की तरह इस प्रकार की भेद-भावना होनी चाहियें जिससे कि व्याघ्रादि क्रूर जीवों के द्वारा शरीर के भक्षण किये जानेपर भी आत्मा में आकुलता न होवे। अथवा पांडवों की तरह शरीर के जलते रहने पर भी राग उत्पन्न न होवे। इस प्रकार की दृढ़ भेद-भावना से ही वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्मा को शरीर से भिन्न मानना कब सार्थक होता है?

तथैव भावयेद् देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं,देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२॥

अन्वयार्थ—(देहात् व्यावृत्य आत्मानं आत्मनि तथैव भावयेत् यथा पुनः स्वप्नेऽपि देहे आत्मानं न योजयेत्) शरीर से भिन्न मानकर आत्मा को आत्मा में इस प्रकार दृढ़ भावना करनी चाहिये जिससे कि स्वप्न में भी शरीर में आत्मा का प्रतिभास न होने पावे।

भावार्थ—किसी वस्तु का संस्कार हृदय से पूर्ण निकला हुआ तभी समझना चाहिये जब कि स्वप्न में भी उस संस्कार का असर हृदय पर न होने पावे। इसी बातको लेकर इस श्लोक में बताया गया है कि वास्तव में आत्मा को शरीर से भिन्न मानना तभी सार्थक हो सकता है जब कि स्वप्न में भी शरीर और आत्मा के एकपनेका ज्ञान न होने पावे।

मोक्ष प्राप्तिमें पाप और पुण्य दोनों प्रतिबंधक जानने चाहिये।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयो र्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी, व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥८३॥

अन्वयार्थ (अव्रतैः अपुण्यं, व्रतैः पुण्यं, तयोः व्ययः मोक्षः, ततः मोक्षार्थी अव्रतानि इव व्रतानि अपि त्यजेत्) हिंसादिक अव्रतों से पाप होता है, अहिंसा आदिक व्रतों से पुण्य होता है और पुण्य व पाप दोनों के नाश से मोक्ष होता है। इस लिये मोक्ष के इच्छुक पुरुष को अव्रतों की तरह व्रतों को भी छोड़ना चाहिये।

भावार्थ—मोक्ष प्राप्ति के लिये जैसे हिंसादिक पाप कार्य प्रतिबंधक हैं उसी तरह अहिंसादिक व्रत,दया भाव आदिक पुण्य कार्य भी प्रतिबंधक हैं। इस लिये मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को लोहे व सोने की बेड़ी के समान पाप व पुण्य दोनों को छोड़ कर केवल अपने शुद्धात्मा के अनुभव में तन्मय होना चाहिये। यहां इतनी बात और जानने की है कि जब तक शुद्धात्मा में तन्मय होने की योग्यता न होवे तब तक पुण्य कार्यों को कदापि नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि यदि शुद्धोपयोग में स्थिर हुए विनाही शुभोपयोग को छोड़ दोगे तो इन दोनों उपयोगों के न रहने से चित्तवृत्ति पापकार्यों की तरफ झुक जायगी, जिससे आत्माको और भी अधिक दुःख सहने पड़ेंगे। इसलिये शुद्धोपयोग के अभाव में अहिंसादिक की भावना रूप शुभोपयोग को ही परंपरा मुक्तिका कारण समझकर हस्तावलम्बन समझना चाहिये।

पाप-पुण्य के त्याग करने का क्रम।

अव्रतानि परित्यज्य,व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य,परमं पदमात्मनः।८४।

अन्वयार्थ—(अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठितः आत्मनः परमं पदं सम्प्राप्य तानि अपि त्यजेत्) हिंसादिक व्रतों को छोड़कर अहिंसादिक व्रतों में स्थिर होना चाहिये

अर्थात् उनको पालन करना चाहिये। पश्चात् राग-द्वेष रहित साक्षात् वीतराग पद की प्राप्ति हो जाने पर व्रतों को भी छोड़ना चाहिये। अर्थात् वीतराग दशा प्राप्त होने से पहले अहिंसादिक व्रतों को नहीं छोड़ना चाहिये॥ ८४॥

दुःख का मूल कारण व मोक्ष का बाधक कौन है?

यदन्तर्जल्पसम्पृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे, शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥

अन्वयार्थ—(यत् अन्तर्जल्पसम्पृक्तं उत्प्रेक्षाजालं आत्मनः दुःखस्य मूलं, तन्नाशे इष्टं परं पदं शिष्टं) अंतरंग वचन व्यापार करके सहित जो अनेक प्रकार का कल्पना जाल है वही वास्तव में आत्मा के लिये दुःख का मूल है इस संकल्प विकल्प रूप कल्पना जाल के नाश होने पर ही वास्तव में परम पद की प्राप्ति हो सकती है।

भावार्थ—परमानन्द मय चैतन्य चमत्कार स्वरूप निज आत्म द्रव्य को न पहिचान कर जो यह जीव व्यर्थ ही अपने आत्मा को सुखी व दुखी, राजा-रंक, सबल—निर्बल मानता रहता है तथा इन्हीं बातों को लेकर जो और भी अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करता है यह सब प्रपंच ही इस जीव के संसारमें भटकनेका मूल कारण है। और इस प्रपंचको छोड़ने से ही इसको मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

कल्पना जाल के नाश करने का क्रम।

अव्रती व्रतमादाय, व्रती ज्ञान परायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः, स्वयमेव परो भवेत॥८६॥

अन्वयार्थ—(अव्रती, व्रतं आदाय, व्रती ज्ञानपरायणः, परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयं एव परः भवेत्) अव्रती अवस्था में उत्पन्न होने वाली कल्पनाओं को तो व्रत ग्रहण करके नाश करे, और व्रती अवस्था में होने वाली कल्पनाओं को ज्ञान भावना में तन्मय होकर नाश करे, पश्चात् अर्हंत अवस्था में सर्वज्ञ पद प्राप्त करके क्रम से मुक्ति मंदिर में अनन्त काल तक जा निवास करे।

भावार्थ—गृहस्थ अवस्था में स्त्री-पुत्र, धन—धान्यादिक के प्रपंच में पड़े रहने से जो अनेक प्रकारके इष्टानिष्ट संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं। साधु पद ग्रहण करके पहले तो इन गृहस्थ सम्बन्धी विकल्पों का त्याग करना चाहिये, पश्चात् साधु अवस्था में भी पीछी-कमण्डलु, शिष्य-प्रशिष्य आदि के निमित्त से जो विकल्प उठते हैं उनको निरन्तर ज्ञानाभ्यास या आत्मभावना में लीन होकर छोड़ना चाहिये; इसी प्रकार क्रम से शुक्लध्यान द्वारा अर्हंत पद प्राप्त कर, सिद्ध पद प्राप्त करना चाहिये॥८६॥

साधुवेश धारण करने मात्रसे मुक्ति नहीं हो सकती।

लिंगं देहाश्रितं दृष्टं,देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंगकृताग्रहाः।८७।

अन्वयार्थ—(लिंगं देहाश्रितं दृष्टं, देह एव आत्मनः भवः, तस्मात् ये लिंग कृता ग्रहाः ते भवात् न मुच्यन्ते) जटा धारण करना अथवा नग्न रहना आदिक जो भेष हैं वे सब शरीर के आश्रित हैं और शरीर के निमित्त से ही आत्मा संसारी कहलाता है। इसलिये केवल भेष मात्र से ही मुक्ति प्राप्त करने का आग्रह करने वाले पुरुष संसार से मुक्त नहीं हो सकते।

भावार्थ—बहुत से अज्ञानी साधु दुराग्रह वश सम्यग्ज्ञान, ध्यान आदि के बिना केवल वेश मात्र को ही मुक्ति का कारण मान बैठते हैं, ऐसे पुरुषों को समझाने के लिये आचार्य महाराज कहते हैं, कि केवल वेश मात्र से मोक्ष प्राप्ति का आग्रह करना मूर्खता है, साधु वेश धारण करके उस पद के योग्य ज्ञान-ध्यान आदि के करने से ही वास्तव में आत्म हित हो सकता है। यहां पर एक बात यह और जानने की है कि जिस प्रकार बहुत से अज्ञानी साधुओं को वेश मात्र का पक्ष होता है। ऐसे ही बहुत से दुर्विदग्ध पुरुषों को ज्ञान मात्र का पक्ष भी होता है। अर्थात् जैसे कोई २ पुरुष ज्ञान के बिना साधु-वेश मात्र से मुक्ति मंदिर में प्रवेश करने का प्रयास करते हैं वैसे ही बहुत से पुरुष साधु वेश के बिना ज्ञान मात्र से ही

मोक्ष प्राप्ति का स्वप्न देखा करते हैं, यह भी ऐसे पुरुषों का केवल भ्रम मात्र है, जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान, मोक्ष प्राप्ति में साधक है उसी प्रकार द्रव्य चारित्र भी साधक है, केवल एकान्त मानने का ग्रन्थकार ने निषेध किया है। इसी भाव का एक यह काव्य श्री अमृत चन्द्र स्वामी ने समयसार के कलशों में लिखा है—

मग्नाः कर्म नयावलम्बन परा, ज्ञानं न जानन्ति य-।
न्मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदति, स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः॥
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं, ज्ञानं भवन्तः स्वयं।
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं,यान्ति प्रमादस्य च ॥१॥

अर्थात्—जो पुरुष ज्ञान स्वरूप आत्मा को न जानकर केवल बाह्य क्रियाकांड को ही मुक्ति का कारण जान उसमें ही तन्मय रहते हैं वे भी संसार में डूबते हैं और जो शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति हुए विना ही मिथ्या ज्ञान के कुतर्कों में पड़ कर व्यवहार चारित्र को सर्वथा छोड़ देते हैं वे भी संसार में ही डूबते हैं। किन्तु जो पुरुष शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर उसमें तन्मय होते हैं अर्थात् जिनकी निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमय एक अभेद रूप परिणति हो जातीहै वे संसारसे पार होतेहैं। ऐसी अवस्था होने पर व्यवहार चारित्र का छूटना कार्यकारी है और जब तक यह परम शांत दशा प्राप्त न हो तब तक प्रमाद रहित होकर व्यवहार रत्नत्रय का धारण करना अत्यंत आवश्यक है ॥८७॥

उत्तम जाति में उत्पन्न होने मात्र से मुक्ति नहीं हो सकती।

जाति र्देहाश्रिता दृष्टा, देह एवाऽऽत्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः॥८८॥

अन्वयार्थ—(जातिःदेहाश्रिता दृष्टा, देह एव आत्मनः भवः, तस्मात् ये जाति कृता ग्रहाः, ते भवात् न मुच्यन्ते) ब्राह्मण आदि जातियां शरीर के आश्रित हैं और शरीर ही आत्मा के लिये संसार है इस लिये जिनको जातीय पक्ष का अनुचित दुराग्रह होता है वे संसार से मुक्त नहीं हो सकते। यहां पर भी यह बात विशेष जानने की है कि यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन उत्तम जातियों में उत्पन्न हुए पुरुषों को ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है अन्य को नहीं हो सकती, तथापि मुक्ति प्राप्ति के ज्ञान-ध्यानादि साधन किये बिना ही केवल उत्तम जाति में उत्पन्न होने मात्र से मुक्ति मानना भ्रम है। यहां भी आचार्य महाराज ने "वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः" "काशी मरणान्मुक्तिः" इस प्रकार मिथ्या एकान्त छुड़ाने के लिये यह श्लोक लिखा है ॥८८॥

मिथ्या शास्त्रोंका दुराग्रह करनेसे भी परमपदकी प्राप्ति नहीं होती।

जातिलिंगविकल्पेन, येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव, परमं पदमात्मनः॥८९॥

अन्वयार्थ—(येषां जाति लिंग विकल्पेन समयाग्रहः ते ऽपि आत्मनः परमं पदं न प्राप्नुवन्त्येव) जिन पुरुषों को पूर्व में कहे हुए जाति और लिंग के विषय में शास्त्र-प्रतिपादित होने का आग्रह है अर्थात् ब्राह्मणत्व आदि जाति में उत्पन्न होने मात्र से अथवा किसी एक वेश मात्र के धारण करने से ही मुक्ति हो जाती है इस प्रकार के कथन वाले शास्त्रों को प्रमाण मानकर जो पुरुष अनेक प्रकार के दुराग्रह करते रहते हैं वे भी आत्मा की शुद्ध अवस्था को नहीं प्राप्त हो सकते।

विना मोह मंद हुए बाह्य चारित्र कार्यकारी नहीं।

यत्त्यागाय निवर्तन्ते, भोगेभ्यो यदवाप्तये ।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति, द्वेषमन्यत्र मोहिनः ।९०।

अन्वयार्थ—(यत्त्यागाय यदवाप्तये भोगेभ्यः निवर्त्तन्ते, मोहिनः तत्रैव प्रीतिं अन्यत्र द्वेषं कुर्वन्ति) शरीरादिक पर-पदार्थों से ममत्व दूर करने के लिये तथा वीतराग अवस्था की प्राप्ति के लिये बहुत से पुरुष विषय—भोगों को छोड़ कर साधु हो जाने पर भी पश्चात् मोह के उदय से शरीरादिक में प्रीति व वीतरागता के साधनों से द्वेष करने लगते हैं।

भावार्थ—अंतरंग राग-द्वेष-मोह के शांत हुए विना यदि कोई पुरुष किसी उत्तेजना आदि के कारण विषयभोगों को छोड़ कर मुनि व्रत भी धारण कर लेता है तो शीघ्र ही फिर

पतित हो जाता है। ऊपर से मुनि सरीखा वेश रखकर भी वह शरीर में अथवा भोजनादिक में प्रीति रखने लगता है और जिस वीतराग दशा की प्राप्ति के उद्देश से उसने मुनि व्रत लिये थे उससे वा उसके साधन भूत ज्ञान, ध्यान आदि से पराङ्मुख रहने लगता है इस प्रकार मोह के उदय से क्रोधादि अंतरंग परिग्रहों को न छोड़ सकने के कारण वह दुःखी ही रहता है, इस लिये आत्म हित के इच्छुक पुरुषों को पहले मोह मंद करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये और जितना २ मोह मंद होता जाय, उतना २ व्यवहार चारित्र बढ़ाते जाना चाहिये।

शरीर में आत्मा के भ्रम होने का दृष्टांत।

अनन्तरज्ञः सन्धत्ते, दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्ध के।
संयोगाद् दृष्टिमंगेऽपि, संधत्तेतद्वदात्मनः ।९१।

अन्वयार्थ—(अनन्तरज्ञः संयोगात् यथा पंगोः दृष्टिं अन्धके संधत्ते, तद्वत् आत्मनः दृष्टिं अंगे अपि संधत्ते) लंगड़े और अंधे के भेद को न जानने वाला पुरुष जैसे लंगड़े की दृष्टि को अंधे में आरोपित करता है वैसे ही आत्मा और शरीर के भेद को न जानने वाला पुरुष आत्मा की दृष्टि को शरीर में आरोपित करता है।

भावार्थ—जैसे अंधे के कंधे पर लंगड़ा चढ़ा हुआ आ रहा हो अर्थात् अन्धे को लंगड़ा रास्ता बताता जा रहा हो

और अन्धा अपने पैरों से चलता जा रहा हो, ऐसी दशा में कोई पुरुष अपने नेत्रों की मंद ज्योति से यदि लंगड़े को न देखकर यह समझे कि यह चलने वाला पुरुषही अपनी आंखों से देखकर जा रहा है तो यह उस मंद ज्योति वाले का जानना जिस प्रकार ठीक नहीं है उसी प्रकार आत्मा व शरीर का संयोग होने से जो पुरुष शरीर को ही आत्मा समझता है उनका भी वह ज्ञान ठीक नहीं है।

अंतरात्मा को शरीर में आत्मा का भ्रम नहीं होता।

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं, पङ्गोरन्धेन योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे,दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः९२

अन्वयार्थ—(दृष्टभेदः यथा पंगोः दृष्टिं अन्धे न योजयेत् तथा दृष्टात्मा आत्मनः दृष्टिं देहे न योजयेत्) लङ्गड़े व अन्धे के भेद को जानने वाला जैसे लंगड़े को अन्धा नहीं समझता है उसी प्रकार आत्मा व शरीर का भेद जानने वाला पुरुष आत्मा को शरीर नहीं समझता है। अर्थात् जिस पुरुष को अन्धे व लंगड़े के भेद की तरह शरीर व आत्मा का भेद मालूम पड़ जाता है वह शरीर को आत्मा न समझ कर ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों के पुंज को आत्मा समझता है।

कौन पुरुष किस अवस्था को भ्रम रूप समझता है।

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव, विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य,सर्वावस्थात्मदर्शिनः॥९३।

अन्वयार्थ—(अनात्मदर्शिनां सुप्तोन्मत्ताद्यवस्था एव विभ्रमः आत्मदर्शिनः अक्षीणदोषस्य सर्वावस्था विभ्रमः। अथवा-आत्मदर्शिनां सुप्तोन्मत्ताद्यवस्था एव-"अपि",विभ्रमः न,सर्वावस्थात्मदर्शिनः अक्षीण दोषस्य विभ्रमः)आत्मस्वरूप को न जानने वाले बहिरात्मा पुरुषों को केवल सुप्त व उन्मत्त अवस्था ही भ्रमरूप मालूम देती है किन्तु आत्मदर्शी पुरुष को रागी पुरुषों की सर्व ही अवस्थायें भ्रम रूप मालूम देती हैं। अथवा इस श्लोक का दूसरा अर्थ यह है कि आत्मदर्शी पुरुषों की सुप्त (निद्रावस्था) व उन्मत्त अवस्था भी भ्रम रूप नहीं होती, और देहादिक की सम्पूर्ण अवस्थाओं को आत्मा की अवस्थायें जानने वाले रागी पुरुष की सुप्त व उन्मत्त सर्व ही अवस्था भ्रम रूप होती हैं।

भावार्थ—व्यवहारी जन तो स्वप्नके ज्ञान को या उन्मत्त-पागल पुरुष के ज्ञान को या उसकी क्रियाओं को ही मिथ्या समझते हैं किन्तु आत्म दर्शी पुरुष प्रपंच में फंसे हुए बहिरात्मा पुरुषों की समस्त क्रियाओं को ही भ्रम रूप समझते हैं क्यों कि व्यवहारी जन चाहे शुभ कार्य करें चाहे अशुभ कार्य करें कोई भी कार्य उनका राग-द्वेष के बिना नहीं होता,

और जिन कार्यों में राग-द्वेष लगा हुआ है वे सब कार्य परमार्थदृष्टि से भ्रम रूप हैं आत्म स्वभाव नहीं है, इसी से आत्मदर्शी पुरुष व्यवहारी जीवों के समस्त कार्यों को भ्रम रूप समझते हैं। दूसरा अर्थ संस्कृत टीका में इस श्लोक का यह भी दिया है कि आत्मदर्शी पुरुषों की सुप्त व उन्मत्ता-दि अवस्था भ्रम रूप नहीं होती।क्योंकि जो पुरुष आत्मरसमें भीगे हुए हैं अथवा यों कहिये।कि जिनको परमानन्द मय आत्मिक सुधारस के पान करने का अभ्यास पड़गया है। उनको जब इन्द्रियों की शिथिलता से निद्रा आ जाती है अथवा खान-पान की प्रतिकूलता व रोग आदि से कदाचित् मूर्च्छा भी आजाती है तो भी उनकी आत्मानुभव की वासना नहीं छूटती। इसलिये ऐसे आत्मदर्शी पुरुषों की सुप्त व उन्मत्त अवस्थाभी भ्रमरूप नहीं होती,यदि वे सुप्त व उन्मत्त अवस्थायें भ्रम रूप होती हैं तो शरीरादिक बाह्य पदार्थों की समस्त अवस्थाओंको आत्मरूप समझने वाले बहिरात्मा पुरुषों की ही होती हैं।

कर्म-बन्ध किससे छूटता है और किससे नहीं छूटता?

विदिताऽशेष शास्त्रोऽपि, न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टि, ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपिमुच्यते।९४।

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टिः विदिताशेषशास्त्रः अपि, जाग्रत्

अपि न मुच्यते, ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तः अपि मुच्यते) जिस पुरुष की शरीरादिक बाह्य पदार्थों में आत्मदृष्टि है वह संपूर्ण शास्त्रों को जानता हुआ तथा जागता हुआ भी कर्म-बन्ध से नहीं छूटता और जो पुरुष आत्मज्ञानी है उसके सोते हुए भी तथा मूर्च्छित अवस्था में भी कर्म निर्जरा होती रहती है।

भावार्थ—शरीर व आत्मा के भेद ज्ञान बिना कोरा तोते की तरह रट कर प्राप्त किया शास्त्र ज्ञान आत्म हित का साधक नहीं है और आत्मज्ञान होने पर सुप्त व मूर्च्छित अवस्था भी आत्मा की हानि करने में समर्थ नहीं है।

मन किस वस्तु में लीन होता है ?

यत्रैऽऽवाहितधीः पुंसः, श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा, चित्तं तत्रैव लीयते।९५।

अन्वयार्थ—(पुंसः यत्र एव आहितधीः तत्र एव श्रद्धा जायते, यत्र एव श्रद्धा जायते, तत्र एव चित्तं लीयते) पुरुष की जिस पदार्थ में बुद्धि लग जाती है उसी में उसको श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और जिस पदार्थ में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है उसी में उसका मन रम जाता है।

भावार्थ—जिस पुरुषको जो वस्तु प्रिय मालूम देतीहै उसी वस्तु को ग्रहण करने की उस पुरुष की इच्छा होती है और जिसके ग्रहण करने की इच्छा होती है उसी वस्तु में उसका मन हर समय लीन होता है। इस नियम के अनुसार जिस

पुरुष को आतम अनुभव करना अच्छा लगता है उसको आत्मा-नुभव करते रहने की ही निरंतर इच्छा रहती है और इसी कारण उसका मन आत्मानुभव में ऐसा तन्मय रहता है कि स्वप्न में भी आत्मानुभव से अलग होना नहीं चाहता। इसके विरुद्ध जिस पुरुष को विषयों से प्रीति है उसका मन निरंतर विषयों में ही फंसा रहता है और इसी कारण यदि उसको शास्त्र ज्ञान भी हो जाता है तो वह कार्यकारी नहीं होता।९५।

मन किस वस्तु से उदास नहीं होता ?

यत्रैवाऽहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्त्तते।
यस्मान्निवर्त्तते श्रद्धा, कुतश्चित्तस्य तल्लयः।९६।

अन्वयार्थ—(पुंसः यत्र एव अहितधीः तस्मात् श्रद्धा निवर्त्तते, यस्मात् श्रद्धा निवर्त्तते चित्तस्य तल्लयः कुतः) पुरुष की जिस वस्तु में अनुपकारक बुद्धि होती है अर्थात् जिस वस्तु को वह हितकारी नहीं समझता उस वस्तुमें उसकी रुचि नहीं होती, और जिस वस्तु में रुचि ही नहीं है उस वस्तु में मन कैसे लग सकता है? अर्थात्-जैसे किसी पुरुष को यदि विषय-कषायों से बचना हो, तो पहले उसे विषय-कषायों को दुःखदाई समझना चाहिये, क्योंकि जब उसकी बुद्धि में विषय-कषाय दुःखदाई मालूम देने लगेंगे तब स्वयं ही उसकी रुचि उनसे हट जायगी, और रुचि हटने से मन विषय-कषायों के सेवन करने से उदास हो जायगा।९६।

ध्येय को ध्याता से भिन्न मानकर भी ध्यान करना उत्तम ही है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा, परो भवति तादृशः।
वर्त्तिर्दीपं यथोपास्य, भिन्ना भवति तादृशी॥९७

अन्वयार्थ-(आत्मा भिन्नात्मानं उपास्य तादृशःपरःभवति, यथा भिन्ना वर्त्तिः दीपं उपास्य तादृशी भवति) यह जीव अपने से भिन्न अर्हंत-सिद्ध स्वरूप परमात्मा की उपासना करके उनही सरीखा अर्हंत सिद्ध रूप परमात्मा हो जाता है जैसे कि बत्ती,दीपक से भिन्न होकर भी दीपक की उपासना से दीपक स्वरूप हो जाती है।

भावार्थ—परमात्मा को भिन्न मानकर भी उसका ध्यान-मनन आदि करो तो भी आत्मशुद्धि होती है। यहां ग्रंथकार का आशय यह है कि जबतक "जो परमात्मा है वही मैं हूं।" और "जो मैं हूं,वही परमात्मा है।" इस प्रकार ३१ वें श्लोकमें कहे अनुसार ध्याता-ध्यान-ध्येय को एक रूप मानकर ध्यान करने की योग्यता न होवे तबतक ध्याता-ध्येयकी भेद-भावनासे ध्यान करनेको भी हेय नहीं समझना चाहिये,किन्तु भेद भावना से किये हुए ध्यान के द्वारा भी आत्मा का बहुत हित होता है, यही समझना चाहिये।

ध्येय को ध्याता से अभिन्न मानकर ध्यान करने का, दृष्टान्त पूर्वक समर्थन।

उपास्यात्मानमेवात्मा, जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव,जायतेऽग्नि र्यथा तरुः॥९८

अन्वयार्थ—(अथवा आत्मा आत्मानं एव उपास्य परमः जायते,यथा तरुः आत्मा आत्मानं एव मथित्वा अग्निः जायते) अथवा आत्मा अपनी ही उपासना करके परमात्मा हो जाता है। जैसे बांसका वृक्ष बांसके साथ ही रगड़ खाने से अग्नि-रूप हो जाता है।

भावार्थ—यदि आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को ही ध्येय समझ कर उसमें ही तन्मय होकर अभेदरूप से ध्यान करता है। तो परमात्मपद प्राप्त कर लेता है। जैसे कि बांस, बांस के साथ ही रगड़ खाने से अग्निरूप हो जाता है॥ ९८॥

भेदाभेद का उपसंहार।

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचां गोचरं पदम्।
स्वतएव तदाप्नोति,यतोनाऽऽवर्त्ततेपुनः॥९९॥

अन्वयार्थ—(इति इदं नित्यं भावयेत्, स्वतःएव तत् अवाचां गोचरं पदं आप्नोति यतः पुनः न आवर्त्तते) अब आचार्य महाराज भेदाभेद का उपसंहार करते हुए लिखते हैं। कि आत्म स्वरूप को भिन्न रूप अथवा अभिन्नरूप मानकर निरन्तर भावना करनी चाहिये। जिससे कि वचनके अगोचर उस परमात्म पदकी, प्राप्ति होवे जिससे कि फिर छूटना नहीं होता और संसार के दुःख भोगने नहीं पड़ते।

आत्मा भूत चतुष्टय से उत्पन्न नहीं है और संसार अवस्था में सर्वथा शुद्ध नहीं है।

अयत्नसाध्यं निर्वाणं, चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न,दुःखं योगिनां क्वचित्।

अन्वयार्थ—(यदि चित्तत्त्वं भूतजं "तर्हि,, निर्वाणं अयत्न साध्यं, अन्यथा योगतः तस्मात् योगिनां क्वचित् दुःखं न) यदि कदाचित् चैतन्यस्वरूप आत्म तत्त्वकी उत्पत्ति चार्वाक के मतानुसार पृथिवी,जल,अग्नि और वायु इन चार भूतों से ही मानली जाय तो फिर मोक्ष प्राप्तिके लिये प्रयत्न करने की कुछ आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि जब भूत चतुष्टयसे उत्पन्न हुआ शरीर ही आत्मा मान लिया गया तो शरीर के नाश को ही मोक्ष मानना पड़ेगा और जब कि शरीर का नाश, आयु समाप्त होने पर स्वयं ही हो जाता है तब फिर उसके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ सिद्ध होता है। इसलिये मोक्ष पुरुषार्थ को ध्यान में रखते हुए चार्वाक की इस मन-गढ़न्त कल्पना को ठीक नहीं समझना चाहिये। दूसरे यदि चैतन्य स्वरूप आत्मा को सांख्यमत के अनुसार सर्वथा स्वभावसिद्ध शुद्ध स्वरूप ही मान लिया जाय तो भी मोक्ष प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि आत्मा की अशुद्ध रूप संसार अवस्था से शुद्ध रूप

मोक्ष अवस्था के प्राप्त करने के लिये ही ज्ञान-ध्यान, जप-तप आदि पुरुषार्थ या उद्योग की आवश्यकता होती है और यदि आत्मा को अनादि से ही सर्वथा शुद्ध स्वरूप मान लिया जाय तो फिर मोक्ष प्राप्ति के लिये किया हुआ सब परिश्रम व्यर्थ पड़ जाता है, इसलिये यह सांख्यमतका कथन भी युक्ति संगत नहीं जानना चाहिये। हां, यदि जीवन्मुक्त रूप अरहंत अवस्था की अपेक्षा आत्मतत्त्व को शुद्धस्वरूप माना जाय तो यह बात बन सकती है और इस दशा में मोक्ष भी अप्रयत्न सिद्ध बन सकता है। क्योंकि सर्वज्ञ-रूप अरहन्त केवली का आत्मा भी शुद्ध हो जाता है और मोक्ष प्राप्ति के लिये अब वे कोई बुद्धि-पूर्वक प्रयास भी नहीं करते, इसलिये उनकी मुक्ति भी अरहंत अवस्था की अपेक्षा बिना प्रयत्न के कही जा सकती है, इसके अतिरिक्त अरहंत अवस्था से नीचे के गुणस्थान वाले जो मुनि हैं उनको ध्यानादिक के करने से ही अरहंत अवस्था पूर्वक मुक्ति प्राप्त होती है इसलिये मुक्ति के लिये प्रयत्न करना भी आवश्यक सिद्ध होता है। यहां कदाचित् यह शंका हो सकती है कि प्रयत्नसिद्ध मुक्ति मानने में तो प्रयत्न करते समय कष्ट भोगना पड़ेगा और जिस कार्य के करने में प्रथम ही कष्ट भोगना पड़े, उसमें पीछे से सुख क्या मिल सकता है? इस प्रश्न का खुलासा उत्तर यही है कि मुक्ति प्राप्ति के लिये कठिन से कठिन तप व ध्यान आदि करते हुए भी महर्षिजन खेद नहीं मानते किन्तु अपने लक्ष्य की सिद्धि होते देख तप-ध्यान

आदि करने में आनंद मानते हैं, क्योंकि वे शरीर को आत्मा से भिन्न समझते हैं इस लिये शरीर के कृश होने से उन को खेद नहीं होता।

शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता।

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि, न नाशोऽस्ति यथाऽऽत्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि, विपर्यासाऽविशेषतः ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(स्वप्ने दृष्टे विनष्टे अपि यथा आत्मनः नाशः न अस्ति, तथा—जागरदृष्टे अपि, विपर्यासाऽविशेषतः) स्वप्न में शरीर के नाश होने पर भी जैसे आत्मा का नाश नहीं होता उसी प्रकार जागृत अवस्था में भी शरीर के नाश होने पर आत्माका नाश नहीं होता।

यहां यह शंका हो सकती है कि स्वप्न में तो भ्रम से शरीर के नाश के साथ आत्मा का नाश मालूम पड़ता है? इस के उत्तर में जागृत अवस्था में भी शरीर के नाश के साथ आत्मा के नाश को भ्रमरूप ही समझना चाहिये; क्योंकि जैसे झोंपड़ी के जल जाने पर भी आकाश नहीं जलता वैसेही शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। हां! स्वप्न अवस्था में शरीर का भी नाश भ्रम रूप है। जागृत अवस्था में मरते समय शरीर के परमाणु बिखर कर अवश्य अलग-अलग हो जातेहैं अर्थात् उनकी शरीररूप स्कन्ध पर्याय वास्तव में नष्ट हो जाती है। किन्तु आत्मा का अभाव दोनों

अवस्थाओं में नहीं होता। आत्मा की सिद्धि अष्ट सहस्री, प्रमेय कमल मार्तण्ड आदि ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक की है यहां खंडन-मंडन के विषय पर दृष्टि नहीं दी गई है।

कायक्लेशादि करके आत्मा को शरीर से भिन्न जानने का अभ्यास करना चाहिये।

अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥१०२॥

अन्वयार्थ—(अदुःखभावितं ज्ञानं दुःखसन्निधौ क्षीयते, तस्मात् यथाबलं आत्मानं दुःखै भावयेत्) सुकुमारता पूर्वक, बिना काय-क्लेश आदि तप किये, जो शरीर व आत्मा का भेदज्ञान होजाताहै वह उपसर्ग,परिषह आदि कष्टोंके आनेपर नष्ट भी हो जाता है। इस लिये मुनि—जनों को यथा शक्ति कायक्लेश आदि तप करके ही शरीर से भिन्नआत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिये।

भावार्थ—जिसको अनेक प्रकार के भयंकर कष्टों के आने पर भी शरीर का मोह उत्पन्न न होवे, वही सच्चा भेदज्ञानी समझा जा सकता है और यह बात तभी हो सकती है जब शरीर को स्वयं अनेक प्रकार के कष्ट देकर निराकुल रहने का अभ्यास किया जावे।

आत्मा के चलने पर शरीर क्यों चलता है ?

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेष प्रवर्त्तितात।
वायोःशरीरयन्त्राणि, वर्त्तन्ते स्वेषु कर्मसु॥१०३॥

अन्वयार्थ—("इच्छाद्वेषप्रवर्त्तितात् आत्मनः प्रयत्नात् वायुः "चलति", वायोःशरीरयन्त्राणि स्वेषु कर्मसु वर्त्तन्ते) राग द्वेष से उत्पन्न हुए आत्मा के प्रयत्न से शरीर के भीतर वायु चलती है और वायु के चलने से शरीर व इन्द्रियरूपी यन्त्र अपना २ कार्य करने लगते हैं।

भावार्थ—यहां पर किसी की यह शंका थी कि जब शरीर व आत्मा बिल्कुल भिन्न २ पदार्थ हैं तब आत्मा की इच्छा के आधीन शरीर का गमन क्यों होता है ? अथवा जिधर को आत्मा जाता है, जीवित अवस्था में उधर को ही शरीर क्यों जाता है ? इसी शंका के उत्तर में यह श्लोक लिखा गया है कि पहले आत्मा से राग द्वेष के वश प्रयत्न पैदा होता है, वह प्रयत्न शरीर के भीतर की वायु को इच्छित स्थान की तरफ को चलाता है और वायु रेलगाड़ी की तरह शरीर को उधर ही खेंच कर ले जाती है।

शारीरिक क्रियाओंमें बहिरात्मा ही सुख मानता है।

तान्यात्मनि समारोप्य, साक्षाण्यास्ते सुखं जडः।
त्यक्त्वाऽऽरोपं पुनर्विद्वान्, प्राप्नोति परमं पदम्॥१०४

अन्वयार्थ—(जडः साक्षाणि तानि आत्मनि समारोप्य सुखं आस्ते,विद्वान् पुनः आरोपं त्यक्त्वा परमं पदम् प्राप्नोति) मूर्ख पुरुष इन्द्रियों सहित उन औदारिकादि शरीरों को आत्मा मानकर सुख मानता है और ज्ञानी पुरुष शरीर व इन्द्रियों में आत्मा का संकल्प त्यागकर परमपद को पाता है। अर्थात् मूढ़ बहिरात्मा, शरीर व इंद्रियों की अनेक क्रियाओं को आत्मा की ही क्रिया मानकर, सुख मानता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसा नहीं मानते।

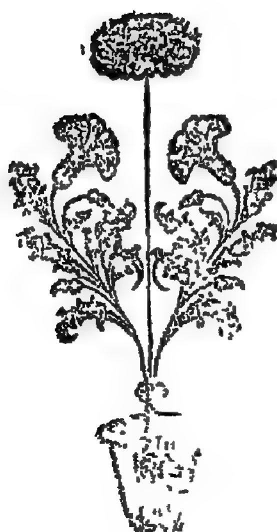
ग्रंथ का उपसंहार।

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठस्—
तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(तनमार्गं एतत् समाधितन्त्रं अभिगम्य परात्मनिष्ठः संसारदुःखजननीं परत्र परबुद्धि अहंधियं च मुक्त्वा जननाद् विमुक्तः ज्योतिर्मयं सुखं उपैति)

भावार्थ—ग्रन्थकर्त्ता श्रीपूज्यपाद स्वामी ग्रंथ का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि परमानन्द मय शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के उपायभूत इस शांतिमय आत्मस्वरूपके प्रतिपादक समाधितन्त्र शास्त्रको जानकर परमात्मा की भावना में स्थित पुरुष

संसार के दुःखों को उत्पन्न करने वाली पर पदार्थों में परमात्मबुद्धि व आत्मबुद्धि को त्यागकर संसारसे मुक्त होता है और ज्ञानानन्दमय सुखनिधि स्वरूप परमात्मपद को प्राप्त होता है ॥ इतिशुभम् ॥



ॐ

अहिंसा भूतानां, जगति विदितं ब्रह्म परमम् ।

इस पुण्य पृथिवी पर कभी सब में अहिंसा भाव था।
राजा प्रजा पशु पक्षि तक पर पड़ा प्रेम प्रभाव था ॥
हिंसक विरोधी जीव भी थे शांत, तज बीभत्सको।
थी गौ पिलाती सिंह को पय, सिंहनी गोवत्स को ॥

नियमावली

श्री अहिंसाप्रचारिणी सभा, काशी ।

वर्तमान जनता में दया, क्षमा, परोपकारता आदि मनुष्योचित गुणोंके स्थान में हिंसकता, क्रूरता, नृशंसता आदि दुर्गुणों की बेहद बाढ़ को देखकर दुर्गुणों को दूर कर उक्त गुणों के पुनरुत्थान के लिये इस सभा का जन्म हुआ है।

(१) मुख्योद्देश्य-अहिंसा (दयाधर्म) का सर्वत्र प्रचार करना तथा हिंसा व उसके कारणों को रोकने का उद्योग करना।

(२) साधन-(१) आनरेरी प्रचारक मण्डल, (२) साप्ताहिक अहिंसा पत्र, (३) उपदेशक विभाग, (४) ट्रैक्ट विभाग, (५) शाखासभायें।

(३) नियम सभासदी-प्रत्येक देशवासी और प्रत्येक धर्मानुयायी महाशय (१) मांस भक्षण, मद्य (शराब) पान

व शिकार खेलने का त्याग करने पर (२) चरबी, चमड़ा व हड्डी का व्यापार न करने पर और (३) अहिंसा के पूर्ण अर्थ से सहमत होने पर इस सभा के सभासद हो सकते हैं।

फीस सभासदी।

(१) जो महाशय १०००) या अधिक एकमुश्त प्रदान करेंगे, वे परम सहायक होंगे।

(२) जो महाशय १००) एकमुश्त प्रदान करेंगे वे स्थायी सभासद होंगे।

(३) जो महाशय ५) रु० वार्षिक प्रदान करेंगे वे साधारण सभासद होंगे। उक्त महाशयों के पास इस सभा के समस्त ट्रैक्ट व साप्ताहिक अहिंसा पत्र बिना मूल्य भेजे जायंगे। प्रत्येक महाशय केवल २) वार्षिक देकर भी साधारण सभासद हो सकते हैं किन्तु उन को इस सभा के समस्त ट्रैक्ट ही बिना मूल्य भेजे जायंगे।

(४) विशेष रूप से अहिंसा प्रचार करने वाले महाशय आनरेरी सभासद बनाए जासकेंगे।

(५) साप्ताहिक अहिंसा पत्र का मूल्य ३॥) रुपया वार्षिक है।

मैनेजर,

श्री अहिंसा प्रचारणी सभा,

काशी।